सुधानिधि ग्रन्थावली

भारतीय-भौतिक-विज्ञान

सं० २००१ वै०

आयुर्वेद पञ्चानन

जगन्नाथप्रसाद शुक्ल राजवैद्य

भिषङ् मणि

श्रीधन्वन्तरयेनमः

संक्षिप्त

भारतीय-भौतिक-विज्ञान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन विनोद हित लहरमें रची सृष्टि अभिराम ।
दरसायी रचना सुभग-अद्भुत ललित ललाम ॥
जेहिं लखि गुनि ज्ञानिन कियो प्रगट ज्ञान-विज्ञान ।
वैज्ञानिक "जगदीश" हों, मंगल मोद निधान ॥

विज्ञान ज्ञानोपाय—"भौतिक" शब्द कहनेसे पहले ही यह ध्यानमें आता है कि भूमि सम्बन्धी विज्ञान अर्थात् इस जगतके सम्बन्धका विज्ञान। दूसरी बात "भूत" शब्दका स्मरण कराती है। अर्थात् इस जगतकी उत्पत्ति भूतोंके द्वारा हुई है। जगतका अर्थ है गतिमान चलते चलते नाशको प्राप्त होने वाला अर्थात् अपने कारणोंमें लीन होने वाला। अर्थात् पञ्चमहाभूतोंके असंख्य विकार ही यह जगत है। जगतकी सृष्टिके कारण पञ्चमहाभूत हैं। इन कारणोंका भी आदि कारण ब्रह्म या परमात्मा है, जो सत्य है, विज्ञानमय है और आनन्दमय है। सत्य सदा विज्ञानात्मक होता है, अर्थात विज्ञान सत्यका स्वरूप है। जो सत्य और विज्ञानात्मक होगा वह आनन्दमय होगा ही। इसीलिये तैत्तरीय उपनिषदमें विज्ञानको भी ब्रह्मका रूप कहा है "विज्ञानं ब्रह्म" जब अनेक बार हेतु-हेतुमद्भाव, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव और कार्य-कारण भावके रूपमें किसी ज्ञानकी सत्यता सिद्ध हो जाती है, तब उसे विज्ञानका नाम मिलता है। इस सिद्धिसे आनन्दकी प्राप्ति होती है। यह आनन्दमय सत्य विज्ञान ब्रह्मरूप, अनादि, अनन्त और असीम है। विज्ञान अपनी अनन्त शाखाओं-

से अपनी सत्यता द्वारा जगतका कल्याण किया करता है। किन्तु उसके जाननेके उपाय सीमाबद्ध हैं। वह अनादि तो उसके ज्ञानोपाय 'सादि' वह अनन्त तो उसके जाननेके साधन 'सान्त' हैं। कोई थोड़े ज्ञानकी जानकारीसे अपने प्राप्त ज्ञानको ही अखिल विज्ञान समझ ले तो वह अपनी अज्ञानतासे दूसरे विज्ञान-को अवैज्ञानिक कहनेका दुस्साहस कर सकता है। विज्ञान और ऐहिक पारलौकिक वस्तुओंको जाननेके लिये **प्रमाणकी** आवश्य-कता होती है। हमारे यहाँ यह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रकारके हैं। आधुनिक वैज्ञानिक प्रत्यक्ष और अनु-मानका ही सहारा लेते हैं। जिन विषयोंका साक्षात्कार चक्षु-श्रोत-नासिका आदि इन्द्रियोंके द्वारा होता है उसे **प्रत्यक्षज्ञान** कहते हैं। इन्द्रियोंकी शक्ति सान्त-सीमाबद्ध है, अतएव इनसे वाह्य विषयों-का ही ज्ञान होता है। सुख-दुःख, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि अनुराग-विरागका अनुभव मनको होता है। इस आन्तरिक प्रत्यक्षीकरणको "मानस प्रत्यक्ष" कहते हैं। किन्तु सभी विषय प्रत्यक्ष इन्द्रियों अथवा मनके द्वारा नहीं जाने जा सकते। दूरसे धुआँ देखकर अग्निका अनुमान, कालीघटा घिरकर घन गर्जन होने-से वृष्टि होनेका अनुमान, नदीमें फेन और गँदलापन देखकर ऊपर कहीं पानी बरसनेका अनुमान होता है। गर्भ देखकर गर्भा-धानका अनुमान, किसी बीजको देखकर उसके फलका अनुमान होता है। इसे **अनुमान प्रमाण** कहते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय विषयोंके अधीन होता है। उसी प्रकार अनुमान ज्ञान हेतु ज्ञानके अधीन होता है। अग्निके बिना धुआँ नहीं होता, वृष्टिके बिना जलमें फेन और गँदलापन नहीं होता। जिसके बिना जो कार्य नहीं हो सकता वह उसका अनुमापक होता है। अप्र-योजक और असम्बद्ध वस्तुसे अनुमान नहीं होता। जिस हेतुमें

कोई अनुकूल तर्क नहीं होता उसे अप्रयोजक हेतु या हेत्वाभास कहते हैं। इससे उत्पन्न ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाता है। अनुमान प्रमाणके लिये सत् हेतुसे उत्पन्न अनुकूल तर्कके बल पर सिद्ध ज्ञान होना चाहिये। परन्तु कुछ ज्ञान ऐसे भी हैं जो इन दोनों कोटियोंसे बाहर हैं। अतएव इसे "प्रत्यक्ष पूर्वक" ज्ञान भी कह सकते हैं। प्रामाणिक पुरुषोंके कथन अथवा किसी शास्त्रके वर्णन से बहुतसा ज्ञान प्राप्त होता है, उसे **आगम प्रमाण** या शब्द प्रमाण कहते हैं। सभी प्रकारके मनुष्योंकी कही हुई बात प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। प्रामाणिक पुरुष **आप्तपुरुष** कहलाते हैं। जिन्होंने वस्तुका स्वयं साक्षात्कार किया है या प्रामाणिक रूपसे सुना है और निष्कपट होकर यथार्थ वस्तुका ज्ञान करानेकी इच्छा रखते हैं, जो रज और तमके भावसे निर्मुक्त, तप और ज्ञानके बलसे अव्याहत अमल ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं वे ही आप्त पुरुष कहलाते हैं। चरकमें लिखा है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपो ज्ञान बलेन ये
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्य मशंसयम्
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

कुछ आप्त प्रमाणकी बातें उपाय द्वारा समझी जा सकती हैं। किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनका जानना युक्ति या तर्कसे भी सम्भव नहीं होता। बुद्धिके द्वारा विचारकर कार्य कारणके भावोंकी विवेचना कर जो आप्तज्ञान समझा जाता है वह तर्क-साध्य होता है। किन्तु किसी ज्योतिषीने कहा कि १० वर्ष बाद अमुक मासकी पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण होगा, या किसीने बतलाया कि दान-तप-यज्ञ-सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्यादिका पालन अभ्युदय निःश्रेयसकारक होता है, तो उसे विश्वासके साथ ही मानना

पड़ेगी। मणि-मन्त्र और औषधियोंकी अनन्त प्रभावकी बात भी इसी तरह शास्त्राज्ञाके द्वारा ही माननी पड़ेगी, क्योंकि यह अचिन्त्य है, अतर्क्य है। यम-नियमादिके अनुष्ठानसे जिनके हृदयसे रजोगुण-तमोगुणका आवरण दूर हो जाता है और जिनका अन्तःकरण मणिप्रदीपके समान निर्मल हो जाता है, ऐसे ऋषि-महर्षि और योगियोंके वाक्य निःसंशय और आप्त प्रमाण होते हैं। इससे भी ऊपर "क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" अत्यन्त निर्मल और व्यापक ईश्वरीय ज्ञान है, जिसका पता हमें वेदोंसे लगता है। जिन विषयोंके जाननेका उपाय प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा नहीं होता वह वेदोंसे जाने जाते हैं। अतएव वेदोंका वेदत्व—शब्द प्रमाणत्व आगमप्रमाण है। आयुर्वेद, ज्योतिष और मन्त्रादिकी सहायतासे वेदोंकी सत्यता और आगमत्व परम्परासे सिद्ध हो चुका है। चार्वाकमतमें केवल प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। बौद्ध और वैशेषिक मतमें प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण माने जाते हैं। सांख्य और योग तथा आयुर्वेद भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीनों प्रमाण मानते हैं। न्याय शास्त्रवाले प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ऐसे चार प्रमाण मानते हैं। मीमांसक लोग अनुपलब्धिको भी पांचवां प्रमाण मानते हैं। ईश्वर और वेदोंके सम्बन्धमें बहुत सी बातें उठ सकती हैं; किन्तु इस विवादमें न पड़कर हम इतना ही बतलाना चाहते हैं कि भारतीय विज्ञान जाननेके लिये प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमान प्रमाण और आप्त आगम प्रमाणकी आवश्यकता है; और इन्हीं प्रमाणोंकी कसौटीमें वैज्ञानिक विषयोंको कस कर निर्णय किया जाता है। भारतीय विज्ञान इस कसौटीमें खरा उतरने पर ही सिद्धान्तका रूप पा सका है।

सृष्टिकी उत्पत्ति—सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न दर्शनों, शास्त्रों और धर्मोंमें कुछ भिन्न भिन्न प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। कारणके बिना कार्य नहीं होता। जब यह स्थूल सृष्टि दृश्यमान है तब इसका कोई कर्ता या कार्यका कारण भी होना चाहिये। अतएव कहा गया है कि आरम्भमें केवल परम ज्योतिर्मय स्वयं प्रकाश आत्मा या परमात्मा था। उसीने लोकोंकी सृष्टि की। बीज रूपसे पहले "अप" की सृष्टि हुई। इस अपकी चार अवस्था हैं अम्भ, मरीचि, मर और आप। सूर्य मण्डलसे भी ऊपर आकाशके ऊपरी भागमें अवस्थित अप की अम्भ, सूर्य की किरणोंसे प्रभावित सूर्यमण्डल और पृथ्वीके बीच अन्तरिक्षमें अवस्थित अपको मरीचि, पृथ्वीस्थित अपकी मर संज्ञा और भूमिके नीचे अवस्थित अपकी आप संज्ञा हुई। सूर्यके ऊपर परमेष्ठिमण्डलमें जो सोमरूप अम्भ है उसे अमृत कहते हैं, वहीं ज्योतिर्मय सृष्टि कर्ता परमात्माका निवास है। यह अम्भ जलकी प्राथमिक सूक्ष्मतम अवस्था है। अत्यन्त लघुभूत होनेसे इसीके अंश विशेषसे किसी किसीके मतमें आधुनिक वैज्ञानिकोंका हैड्रोजन सिद्ध होता है। हैड्रोजन अग्नि संयोगसे जलता है और सोम भी सूर्यरश्मि सम्पर्कसे ज्वलनशील होता है। प्रकाशजनक भी है। मरीचिमालीकी मरीचिमालासे प्रभावित तत्किरणजाल 'अपको' नाम मरीचि है। यह आग्नेय सोम होनेसे पवमान कहा जाता है। यही मरीचि अग्निको धारण करने वाला आग्नेय सोम है। सूर्यमण्डल, ग्रह-तारादिकी सृष्टि यहींसे हुई, दिनका प्रकाश यहीं से आता है। सम्भवतः इसीका अंश विशेष आक्सिजन हो। यही सोम और पवन दोनों वनस्पति, ओषधि और उष्णताके पोषक हैं। यह जगत अग्नि-सोमात्मक इसीसे कहा जाता है। हैड्रोजन और आक्सि-

जन (२+१) के योगसे स्थूलजल मरकी प्राप्ति होती है। अग्नि सम्बन्धसे ही द्रवत्व होता है। इस मरकी घनी भूतावस्था पृथ्वी है। इस प्रकार परमात्माकी इच्छासे पहले वीज रूप अप-तत्व हुआ। अति सूक्ष्म होनेसे शून्य रूप आकाश पहला महाभूत हुआ। यह आकाश आधुनिक वैज्ञानिकोंका "ईथर" है या नहीं यह विचारणीय है। क्योंकि ईथरको अनन्त शक्तिका भण्डार और जगतके कारणरूप इलेक्ट्रांसका उत्पादक कहा गया है। आकाशसे वायुका प्रकाश हुआ। वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी हुई। दार्शनिक लोग पदार्थकी पांच अवस्था वतलाते हैं। १ गुण २ अणु ३ रेणु, ४ स्कन्ध और ५ सत्व। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये क्रमसे पंचमहाभूतोंके गुण हैं। अर्थात् आकाशका गुण शब्द, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथ्वीका गन्ध गुण है। इन पाचोंको तन्मात्रा भी कहते हैं। इन तन्मात्राओंको हम किसी पात्रमें रख कर बता नहीं सकते। अतएव कोई यन्त्र द्वारा उनकी परीक्षा करनी चाहे तो यह सम्भव नहीं है। हाँ योग द्वारा बनावट हो सकती है। इस प्रकार आकाशके एक भाग अर्थात शब्द तन्मात्रके एक भाग और स्पर्श तन्मात्रके दो भागसे स्पर्श प्रधान तथा शब्दगुण युक्त अणुसमुदायजन्य वायु बनता है। जिसमें पञ्च-तन्मात्र तारतम्यसे पञ्चमहाभूत जनक अनेक प्रकारके अणुरूप वायु सत्व पाये जाते हैं और उनके मेलसे अनेक वस्तु बना सकते हैं। भौतिकवायुके ४९ रूप और शारीरिक वायुके गुणकर्म भेदसे ५ रूप इसी प्रकार माने गये हैं। इसके बाद एक भाग स्पर्श तन्मात्र, दो भाग रूप तन्मात्र वायुसे रूप प्रधान और शब्द तथा स्पर्श गुण वाला अग्नि हुआ। फिर एक भाग वायुरूप अग्नि और दो भाग रस तन्मात्राधिक वायुसे रस गुण प्रधान तथा

शब्द-स्पर्श और रूप गुण युक्त जल हुआ। इसके बाद एक भाग रस तन्मात्राधिक वायु और दो भाग गन्ध तन्मात्राधिक गन्ध गुण प्रधान और शब्द-स्पर्श-रूप-रस युक्तपृथ्वी उत्पन्न हुई। इस प्रकार सूक्ष्ममहाभूत अर्थात तन्मात्र महाभूतों से पहले तत्वके एक भाग और अपने दो भागोंसे आकाशादि स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं। यह त्रिवृत कारण दार्शनिकोंका अणुरूप है। इन अणुओंका रासायनिक प्रक्रियाके बिना जो अवयव विभागक्रम अविभाज्य होता है वही रेणु है। उन अणुरेणुओंके आरम्भक अवयवीको स्कन्ध कहा जाता है। अवयवीकी क्रमसे आरभ्यमान अवस्था शरीर और इन्द्रियोंके अनुभवमें आती है वह सत्व है। गुणसे लेकर स्कन्ध तककी अवस्था भूत अथवा महाभूत शब्दसे परिबोधित होती है; और सत्व अवस्था प्राप्त द्रव्य भौतिक नामसे पुकारे जाते हैं। यह सारा विश्व पञ्चमहाभूतोंका खेल है। इन महाभूतोंका जो इन्द्रिय ग्राह्य विषय नहीं है वही तन्मात्रा महाभूत है और जो इन्द्रिय ग्राह्य है वही भूत है। आत्मा और आकाश अव्यक्ततत्व शेष व्यक्त हैं। यह हमारी सृष्टि भूतोंका समुदाय है। पृथ्वीमें गति वायुसे अवयवोंका मेल और संघटन जलसे और उष्णता अग्निसे आयी। पृथ्वी अन्तिम तत्व और अपरिवर्तनीय है। सृष्टिके पदार्थ सजीव और निर्जीव भेदसे दो प्रकार के हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टिको परमाणु जनित मानते हैं। हमारे यहाँ भी कणाद इसी मत वाले हैं; किन्तु यह स्थूल मान है। सूक्ष्ममान पञ्चमहाभूतोंसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकार करता है। ये पञ्चभूत परमाणु जनित हैं। द्रव्योंका विभाजित न हो सकने वाला अंश **परमाणु** कहलाता है। वह नित्य और अविनाशी है। क्योंकि विच्छेद होकर कारणमें लीन नहीं होता।

सत्वादि तीनों गुण जिसमें समान हों ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म अव्यक्त एकीभूत परमाणुओंके सर्वत्र व्यापक समष्टिरूप समूहको प्रकृति (सुप्रीम नेचर) कहते हैं। जब इस प्रकृतिमें सत्व गुण अधिक बढ़ जाता है तब उसे महत्तत्व (इण्टेलेक्शन) कहते हैं और जब रजो गुण अधिक हो जाता है तब उसे अहंकार तत्व (एगोइज्म) कहते हैं गुण और गुणीका अभेद मानकर अहंकार शब्दसे अहंकार गुणवाले परमाणु लिये गये हैं। इस प्रकार प्रकृति और महत्तत्व, बुद्धि तथा अहंकार और पंचतन्मात्र गुणभेदसे आठ नाम परमाणुओं अर्थात प्रकृतिके ही हैं। इसको अव्यक्त भी कहते हैं। यह जगतका कारण कहाता है। इन पंच महाभूतोंको तत्व भी कहते हैं। "तनोतीति तत्वम्, तनु विस्तारे" के अनुसार जो अपने विस्तारसे तान लेवे वही तत्व है। ये पंचमहाभूत अपना रूप विस्तार कर विश्वका ताना वाना बनाये हुए हैं अतएव तत्व हैं। पश्चिमी विज्ञान उसे तत्व कहता है जिसकी बनावटमें उसीके परमाणु हों अन्यका मेल न हो। पूर्वी विज्ञान उनकी क्रियाशीलताका मानने वाला है। आजकल तत्व नामसे ९२ पदार्थ समझे जाते हैं और इन्हींके संयोगसे सजीव और निर्जीव सृष्टिका निर्माण स्वीकार करते हैं। इनमें एक जातिके ही परमाणु मिलनेसे ऐसा कहा जाता है। इस दृष्टिसे पूर्वी और पश्चिमी विज्ञानके मूल सिद्धान्तोंमें विभेद दिख रहा है; और इसमें मेल खाना कठिन समझा जा रहा है। किन्तु सम्भव है आगे चलकर यह स्थूल मान गम्भीर ज्ञानमें परिणत होकर एकताके सूत्र हाथ लग जायँ। रसायन और कीमियाँ पद्धतिसे ताम्र द्वारा सोना बनाया जा सकता है। सम्भव है इससे इस मौलिकताके ज्ञानमें अधिक विचारकी आवश्यकता पड़े और पञ्चमहाभूतोंका सिद्धान्त ही अधिक सयुक्तिक जान पड़े। जो

हो, हमारी दृष्टिसे सृष्टिके मूल पदार्थ सूक्ष्मतन्मात्र और स्थूल अवयव प्राप्त स्थूल पंचतत्व हैं। स्थूल पंचतत्व ही पंचभूत नामसे प्रसिद्ध हैं। देह क्षुद्र ब्रह्माण्ड और बाह्य जगत वृहत ब्रह्माण्ड है। क्या क्षुद्र ब्रह्माण्ड क्या वृहत ब्रह्माण्ड सभी पंचभूतात्मक हैं। ये पदार्थ पञ्चक ही बहिर्जगतके मूल हैं। पश्चिमी विज्ञान भी मानता है कि आरम्भमें नीहारिकाओंके (नेब्युला) भीतर जो सूक्ष्म ज्योतिर्मय तरल पदार्थ दिखता है, उसीसे नीहारिकाओंका आरम्भ होता है। यह ज्योतिर्मय पदार्थ अनन्त देशमें बहुत दूर तक फैला रहता है, फिर किसी अज्ञात कारणसे इस अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थके भीतर आन्दोलन पैदा होता है, फिर बड़े वेगसे यह पदार्थ चक्कर खाने लगता है और घना होने लगता है, अनन्त देशमें फैले हुए इस भयानक चक्करसे अन्तमें कुण्डलीका आकार बनता है। यह विश्वकी बनावटकी आदि अवस्था है। इसके पश्चात सूर्यमण्डल, ग्रह नक्षत्र आदि बनते हैं। विश्व बना रहता है और सूर्यमण्डल आदि बनते बिगड़ते रहते हैं। ईसाई मानते हैं कि आरम्भमें ईश्वरकी आत्मा नारा पर बह रही थी। भारतीय पुराण भी नार या जलराशिमें नारायणका शयन और फिर उनकी "एकोऽहं बहु स्याम्" की इच्छाके अनुसार जलघनीभूत होकर सृष्टिकी उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार उस तेजोमय शक्तिको चाहे परमात्मा मानिये, चाहे नीहारिका स्थित ज्योतिर्मय पदार्थ मानिये। घुमा फिराकर सृष्टि क्रममें बहुत अन्तर नहीं और "अप" तत्व ही पञ्चमहाभूतों और भौतिक पदार्थोंका आदि कारण ठहरता है। भगवान गीतामें कहते हैं कि सत्व-रज और तमो गुण वाली मेरी प्रकृति मेरी समीपतासे विषमताको प्राप्त होती है तभी सृष्टिका व्यापार होता है। सृष्टिक तरङ्गके "अहं" पर्यन्त पहुँचने पर जो चैतन्य अहं

अभिमान करके परिच्छिन्न सा हो जाता है वही जीव है। परमात्मा सृष्टि रचनामें अधिष्ठान रूप प्रेरक है।

सृष्टि और त्रिगुण—त्रिगुण और पञ्चमहाभूतकी कल्पना केवल काल्पनिक नहीं है। सृष्टि और हमारे शरीरमें उनकी उपस्थितिका अनुभूति जन्य प्रमाण भी मिलता है। मनुष्योंमें जो आनृशंस्य—निर्दयता हीन, संविभागरुचिता (आप चाहे कुछ न पावे किन्तु औरोंको देवे), तितिक्षा–सहनशीलता, क्षमा, सत्यता, धर्माचरण, आस्तिकता, ज्ञान-विचार शक्ति, बुद्धि-सारासार विचार शक्ति, मेधा-धारणा शक्ति, स्मृति-स्मरण शक्ति, धृति-धैर्य, अनभिषंग (निरपेक्ष शुभ-कर्ममें प्रवृत्ति) आदि जो गुण हैं वे सात्विक गुणके कारण होते हैं। रजोगुण प्रधान पुरुषोंमें दुःखी रहना, स्थिरता न रहना, धैर्यकी कमी, अभिमान, झूठ बोलना, दया न रखना, पाखण्ड, मानकी अधिकता, हर्षातिरेक, काम और क्रोधके गुण अधिक पाये जाते हैं। तामस गुण वालोंमें विषाद, नास्तिकता, अधर्म-शीलता, बुद्धिकी रुकावट, अज्ञान, धारणाशक्तिकी कमी, अकर्मशीलता—काम करनेकी इच्छा न होना, आलस्य और निद्रा गुणकी अधिकता होती है। सत्वगुणकी विशेषता आकाश तत्वके, रजोगुणकी विशेषता वायु तत्वके, सत्व और रज मिश्र गुणकी विशेषता अग्नि तत्वके, सत्व और तम मिश्र गुणकी विशेषता जल तत्वके और तमोगुणकी विशेषता पृथ्वी तत्वके प्रभावसे होती है। इसी तरह आकाश तत्वका परिचय शब्द और शब्देन्द्रिय अर्थात् श्रोत, मुख, नासिका, कर्ण आदि सछिद्र स्थानोंमें तथा विविक्तता-अलग-अलग करनेकी क्रियामें मिलता है। वायु तत्वका परिचय स्पर्श और स्पर्शेन्द्रिय अर्थात त्वचा एवं चलने-फिरने-हिलने-डोलने आदि चेष्टा समूह तथा फैलाने-सिकोड़ने और हल्केपनमें मिलता है। अग्नित्वका परिचय रूप

और रूपेन्द्रिय अर्थात् चक्षु, वर्ण-सौन्दर्य, सन्ताप, भ्राजिष्णुता-दीप्ति, पक्ति-पाचनशक्ति, अमर्ष-क्रोध, तीक्ष्णता और शूर-वीरतासे होता है। जल तत्वका परिचय रस और रसनेन्द्रिय, सम्पूर्ण द्रव समूह, भारीपन, शीतलता, चिकनई और वीर्यके द्वारा होता है, इसी तरह पृथ्वीतत्वका परिचय गन्ध और गन्धेन्द्रिय-घ्राण, सम्पूर्ण मूर्ति समूह-कठिन पदार्थ अस्थि आदि तथा गुरुतासे होता है। ये आकाशादि पांचों तत्व परस्पर अन्योन्याश्रयसे प्रविष्ट हैं। जैसे आकाशमें परमाणु रूपसे सब व्याप्त हैं। उसी तरह अन्य तत्वोंमें भी परमाणुरूपसे व्याप्त हैं।

विज्ञान पुरुष—सृष्टिका उपक्रम करनेमें सृष्टिकर्ताका कुछ उद्देश्य होना चाहिये। इस चमत्कारपूर्ण सृष्टिका कोई द्रष्टा या उपभोक्ता भी होना चाहिये। इसलिये इसके दो भेद हुए जड़ और चैतन्य इसी तरह सूक्ष्म ब्रह्माण्ड और वृहत् ब्रह्माण्ड अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड। यों तो परम ज्योतिर्मय आत्माकी ज्योतिका विकास जड़ और चैतन्य सभीमें विद्यमान है; किन्तु चैतन्य पदार्थोंमें उसकी अनुभूति विशेषताके साथ है। उनमेंसे शरीरधारी जीवोंमें और उनमें भी मानव शरीरमें उसका विकास विशेषतासे है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डेके' अनुसार ब्रह्माण्डका सारस्वरूप यह मनुष्य नामधारी पुरुष उत्तम नमूना है। वहिर्जगतमें जितने स्थूल पदार्थ हैं, पुरुषमें भी वे हैं और जो पुरुषमें हैं वह वाह्य जगतमें भी हैं। जिस प्रकार वहिर्जगतके अवयव असंख्य हैं उसी प्रकार पुरुषके भिन्न-भिन्न अवयव भी असंख्य हैं। किन्तु प्रधानतासे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्ममें उन सबका समावेश हो जाता है। इन छः धातुओंकी समष्टिसे ही पुरुषका निर्माण हुआ है। यह पुरुष-मूर्ति स्थूल घनरूप पृथ्वी, क्लेद रूपी जल, ऊष्मा रूपी अग्नि, प्राण रूपी वायु, अवकाश

और छिद्र रूपी आकाश और अन्तरात्मा ब्रह्मसे पूर्ण है। जगतमें ब्रह्म विभूति प्रजापति, पुरुषमें अन्तरात्माकी विभूति सत्व रूपसे है। जगतमें जो इन्द्र विभूति है, पुरुषमें वैसा ही अहंकार है! जगतमें जैसे सूर्य पुरुषमें वैसा ही आदान, जगतका रुद्र पुरुषमें रोष रूपसे, चन्द्र प्रसाद रूपसे, वसु सुखरूपसे, अश्विनीकुमार कान्तिरूपसे, वायु उत्साह रूपसे, देवता इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ रूपसे, तम मोहरूपसे, ज्योति ज्ञान रूपसे, स्वर्ग गर्भाधान रूपसे, सतयुग वाल्यकाल रूपसे, त्रेता यौवन, द्वापर प्रौढ़त्व और कलियुग रुग्णता रूपसे है। जगतका प्रलय पुरुषमें मृत्युरूपसे विद्यमान है।

ऊर्ध्व दक्षिणांश दक्षिण मेरु, ऊर्ध्व उत्तरांश उत्तर मेरु, शरीरके दो भाग करनेवाला मेरुदण्ड विषुवत रेखा, सुमेरु और कुमेरुके जैसे बर्फसे आच्छादित आकुंचन और प्रसारणसे जीव जगतका प्राण धारण होता है उसी तरह दोनों फुफ्फुस हैं। इनके आकुंचन-प्रसारण और श्वास-प्रश्वास क्रियासे शरीर परिचालित होता है। सप्तद्वीप समन्वित मेरु अर्थात् मूलाधार शरीरमें स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्ध-आज्ञा और सहस्रार सप्तचक्र-वेष्ठित मेरुदण्ड है। सरिता रस धातु, सागर रुधिर, शैल अस्थि-पंजर, क्षेत्रदेह, चन्द्रका गुण विसर्ग और सूर्यका आदान, चन्द्र का शीतल वायु प्रदान जीवधारी श्वास रूपसे लेते हैं और सूर्य जो उष्ण वायु ग्रहण करता है वही जीवधारी प्रश्वास रूपसे परित्याग करते हैं। ग्रहणसे स्थिति और त्यागसे लय, इस प्रकार इस शरीरमें सदा जन्म मृत्यु या सृष्टि और संहार क्रिया चलती रहती है। यही खण्ड प्रलय है। जब शरीर त्यागका ग्रहण नहीं कर सकता, तब मृत्यु या महाप्रलय होता है।

लोक शब्दमें जगत और पुरुष दोनोंका अन्तर्भाव होता है।

सभी लोक ऊपर लिखे षड्धातु सम्पन्न हैं। समस्त लोक हेतु (उत्पत्ति कारण), उत्पत्ति (जन्म), वृद्धि (आप्यायन-पुष्टि), उपप्लव (दुःखागम रोगादि) और वियोग (षडधातु विभाग-नाश) के अधीन हैं। इस प्रकार वियोग ही जीवका अपगम, वियोग ही प्राण निरोध, वियोग ही भङ्ग अतएव वियोग ही लोक स्वभाव है। हमें विस्तृत विवेचनमें नहीं जाना है। किन्तु साहित्यिक दृष्टिसे देखें तो यह पुरुष दर्शन दृष्टिसे आत्मासे आकाश, आकाश से वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे ओषधादि, ओपधादिसे अन्न और अन्नसे पुरुषके क्रमसे हुआ। यह अन्नरसमय **दार्शनिक** पुरुष है। आयुर्वेदमें चिकित्सा-कार्यके लिये **कर्मपुरुष** की आवश्यकता है। इसलिये धातुभेद-से २४ तत्वोंसे पुरुषकी उत्पत्ति कही गयी है। अर्थात् एक मन, पाँच कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय, पंच तन्मात्र, पंच महाभूत, बुद्धि, अव्यक्त और अहंकार। भूतोंका कारण सत्व-रज-तम है। अष्टधा प्रकृतिका मूल अव्यक्त है। वह अकारण है उसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं। वह असंख्य जीवोंका आश्रय है। उसीके सत्व-रज-तम लक्षणोंवाला महत्तत्व-निश्चयात्मक बुद्धितत्व हुआ। उससे अव्यक्त लिंग सत्व-रज-तम स्वभाव वाला अहंकार —मैं हूँ इस ज्ञानवाला—उत्पन्न हुआ। तैजसकी सहायता युक्त वैकारिक-सात्विक-अहंकारसे सात्विक लक्षणवाली मन + कर्मेद्रिय + ज्ञानेन्दिय ये ग्यारह इन्द्रिय उत्पन्न हुईं। तैजस रजो-गुणयुक्त भूतादि तामस अहंकारसे तामस लक्षणवाली-मोह-लक्षणवाली सूक्ष्म पंच तन्मात्रा हुईं। उनके विशेष अनुभव योग्य स्थूल विषय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध हुए। इन्हीं तन्मा-त्राओंसे आकाश-वायु-अग्नि-जल और पृथ्वी, यह सब मिलकर २४ तत्व हैं। पञ्च ज्ञानेद्रियोंके क्रमशः शब्दादि पांच विषय हैं।

कर्मेन्द्रियोंमें वाणीका विषय बोलना, हाथोंका ग्रहण-पकड़ना, जननेन्द्रियका आनन्द, और गुदाका मल त्याग तथा पैरोंका विषय गति है। अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा मिलकर अष्टप्रकृति बनी है। वही पुरुषकी कारणीभूत है। २४ तत्वोंमेंसे शेष १६ अर्थात् ग्यारह इन्द्रिय और पृथ्वी आदि पंच महाभूत विकार हैं। किन्तु ये चौबीसों तत्व चेतना रहित हैं। चेतना युक्त पचीसवां तत्व पुरुष **जीवात्मा** है। यह पुरुष कार्य-रूपी पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रिय तथा कारणरूप अव्य-क्तादि अष्टप्रकृतिसे संयुक्त होकर चेतन करने वाला होता है। यद्यपि प्रकृति प्रत्यक्ष चेतन नहीं अचेतन है तौभी यह पुरुष ऐहिक और पारलौकिक प्रवृतियोंका प्रेरक होता है। जैसे दूध अचेतन होकर भी चेतना प्रेरित वत्सप्रेमसे प्रवृत्त होता है और शुक्र अचे-तन होकर भी अनुराग-संभोगादिसे प्रवृत्त होता है, जैसे जल अचेतन होकर भी अग्नि संयोगसे शब्दवान और वेगवान होता है, उसी तरह प्रकृति भी पुरुष प्रेरणासे कार्यरूपमें प्रवृत्त होती है। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि, अनन्त, अलिंग, नित्य-अवि-नाशी, सर्वव्यापी और **अपर** हैं अर्थात् इनसे परे और कोई नहीं है। यह इनका **साधर्म्य** है। किन्तु अव्यक्तात्मक मूल प्रकृति चेतना रहित है, सत्व-रज-तमगुणवाली है, प्रलयमें समस्त पदार्थ बीजरूपसे इसीमें स्थित होते हैं, यह बीजरूप होनेसे इसीसे सब उत्पन्न होते हैं। अतएव यह प्रसवधर्मिणी है। सुखदुःख भोगनेवाली है। मध्यस्थ धर्मवाली उदासीन नहीं है। इसके बिपरीत पुरुष-आत्मा जीवरूप होकर अनेक—असंख्य है, चेतना पूर्ण और सत्व-रज-तम गुणोंसे रहित है, जीवात्मामें कोई पदार्थ बीजरूप होकर नहीं रहते, यह स्वयं प्रसवधर्मी नहीं मध्यस्थ है।

सुखदुखःका भोग प्रकृति ही करती है, चेतन नहीं, यह दोनोंमें **वैधर्म्य** है। आयुर्वेदका क्षेत्रज्ञ-जीव सर्वगत-सर्वव्यापी नहीं है; किन्तु असर्वगत एक देशी होते हुए भी नित्य है, धर्माधर्म-कर्माकर्मके अनुसार अनेक योनिमें विचरता है। जीवात्मा परम सूक्ष्म अनुमानसे ग्रहण योग्य चैतन्य है, शाश्वत अर्थात् नित्यहै। माता-पिताके रज-वीर्य-संयोगसे प्रकट होते हैं। इसी अवस्थामें पंचमहाभूत शरीरी आत्मा संयोगसे **कर्म पुरुष** कहा जाता है। आयुर्वेदका अभिमत यही कर्म पुरुप है। इसमें १६ गुण माने गये हैं। १. सुख, २. दुःख, ३. इच्छा, ४. द्वेष, ५. प्रयत्न, ६. प्राण (श्वास लेना), ७ अपान (मल-त्याग), ८ उन्मेष-निमेष (नेत्रों को खोलना मूंदना), ९. बुद्धि, १०. मन (इन्द्रिय प्रेरणात्मक शक्ति), ११. संकल्प, १२. विचारणा, १३. स्मृति, १४. विज्ञान, १५. अध्यवसाय और १६. विषयोपलब्धि। इसी प्रकार दार्शनिक और आयुर्वैदिक पुरुषके अतिरिक्त एक **साहित्यिक पुरुष** की भी कल्पना की जा सकती है। पहला दार्शनिक पुरुष सूक्ष्म है और आयुर्वैदिक पुरुषका प्रवाह स्थूलताकी ओर है। यह प्राकृतिक है, तर्कपूर्ण, बुद्धिवाद और कल्याणकारी भावनाओं-से पूर्ण है। यदि पहला सत तो यह चित है। इसमें छः रस ही हैं। उससे विशेष आनन्दकी अनुभूतिके लिये जिस साहित्यिक पुरुषकी कल्पना की जा सकती है, वह नौ रसवाला आनन्द-वर्धक है। उन छः रसोंका आस्वादन जिह्वा कर सकती है; किन्तु इन ९ रसों की अनुभूति हृदय करता है। वह पुरुष प्रकृति और चेतन सहयोगसे हुआ। यह सृष्टिकर्ता विरञ्चिके प्रसादसे सरस्वतीके पुत्र रूपसे प्रकट हुआ और काव्यपुरुष कहलाया। कोमल भावनाएँ सरस्वती रूप और रमणीय शब्दार्थ उससे उत्पन्न पुत्र के रूपमें है। उसका आत्मा रस है, जो नौ प्रकारोंमें विभक्त है।

शब्द और अर्थ उसके शरीर तथा माधुर्य-ओज और प्रसाद उसके गुण हैं। वैदर्भी-गौडी-पांचाली और लाटी नामक रीतियाँ उसके अवयव संस्थान, छन्द उसके रोम और उपमादिक आभरण हैं। इस प्रकार सूक्ष्म, स्थूल और अनुभूतिमय तीन प्रकारके पुरुषोंका स्वरूप है। आयुर्वेद वर्णित पुरुष स्वतन्त्र और सांख्यशास्त्र वर्णित पुरुष परतंत्र तथा साहित्यिक पुरुष व्याप्त है।

द्रव्य और उनके गुण—सारी प्रकृति द्रव्योंसे पूर्ण है। सृष्टिके द्रव्य पञ्चमहाभूतोंके परमाणुओंसे बनते हैं स्थावर सृष्टिसे जीवसृष्टि और उसके पश्चात् मनुष्य सृष्टि हुई। सांख्यका मत है कि सृष्टि पञ्चतन्मात्राओंसे होती है, वेदान्त कहता है पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे सृष्टि उत्पन्न होती है। आयुर्वेद इन्द्रियों और इन्द्रियोंके अर्थोंको भौतिक मानता है। सारे द्रव्य पञ्चभूतात्मक हैं और पृथ्वी उनका मूल आधार है। जलयोनि है अर्थात् जलके योगसे उनमें संघट्टन होकर विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। अग्नि-वायु और आकाश द्रव्योंके बननेमें समवायिकारण हैं अर्थात् इनके संयोगसे द्रव्यकी पूर्णता होती है। इस प्रकार सब पदार्थ यद्यपि पञ्चमहाभूतोंके मेलसे ही बनते हैं; तथापि जिस द्रव्यमें जिस तत्व या महाभूतकी अधिकता होती है वह उसीके नामसे सम्बोधित होता है। वायुकी अधिकतासे वायवीय, जलकी अधिकतासे जलीय आदि। मनुष्य शरीर भी इसी प्रकार पञ्चभूतात्मक है और पंचभूतात्मक द्रव्योंके आहार पानेसे ही उसका पोषण होता है। आहारीय द्रव्य जिस गुण वाले होंगे शरीर पर उनका असर भी तदनुकूल होगा। इसलिये शरीरधारियोंका इन जंगम, औद्भिद, पार्थिवादि द्रव्योंसे घनिष्ट सम्बन्ध है। पार्थिव पदार्थ गुरु-स्थूल-स्थिर और गन्धगुणोल्वण होते हैं। उनसे शरीरमें भारीपन, स्थिरता, घनत्व, स्थूलता और

कठिनता आती है। जलतत्वाधिक-द्रव पदार्थ पतले, ठण्डे, भारी, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र (बांधनेवाले) और रसगुण युक्त होते हैं। इनसे स्नेहन, स्राव, क्लेद, आल्हाद और सन्धान धर्म की प्राप्ति होती है। आग्नेय पदार्थ रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, विशद-स्वच्छता, सूक्ष्म और रूप गुणोल्वण होते हैं। इनसे दाह, कान्ति, वर्ण, प्रकाश और पचन धर्मकी सिद्धि होती है। वायवीय द्रव्य रूक्ष, विशद-स्वच्छता, हल्कापन और स्पर्श गुण प्रधान होते हैं, उनसे रूक्षता, हल्कापन, स्वच्छता, विचार और ग्लानि क्रिया सम्पादित होती है। आकाशात्मक द्रव्य सूक्ष्म, विशद, लघु और शब्द गुणोल्वण होते हैं, और ये पोलापन तथा हल्कापनकी क्रिया सम्पादित करते हैं। इस प्रकार संसारमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो हमारे शरीरके लिये किसी न किसी आवश्यकताकी पूर्ति न कर सकता हो, अतएव वह औषधि रूप है। नानार्थ योगसे उनमें औषधिगुण आते हैं। जिन पदार्थों में अग्नि और वायुकी अधिकता होती है वे ऊर्ध्व गामी क्रिया (वान्ति, डकार आदि) सम्पादित करते हैं, जिनमें पृथ्वी और जल तत्वकी अधिकता होती है वे अधोगामी क्रिया-जुलाव, वायु-मूत्रादिका निर्गमन कराने वाले होते हैं। पदार्थों में उनके कार्यदर्शक बीस गुण होते हैं। १ गुरु २ लघु ३ मन्द ४ तीक्ष्ण ५ हिम ६ उष्ण ७ स्निग्ध ८ रूक्ष ९ श्लक्ष्ण (लिलबिला) १० खर-खरखरा ११ सान्द्र १२ द्रव १३ मृदु १४ कठिन १५ स्थिर १६ सर १७ सूक्ष्म १८ स्थूल १९ विशद २० पिच्छिल। शरीरमें दोष-धातु-मल आदिकी ह्रासवृद्धि होने पर पदार्थोंके उक्त गुण जानकर धातु-साम्य करनेमें-आरोग्यता बनाये रखनेमें सहायता मिलती है। वाह्य जगतका प्रभाव हमारे शरीरमें बराबर पड़ता है। वर्षासे शरीरमें अवसाद, शीतसे कँपकपी, ग्रीष्मसे उत्तापकी वृद्धि

होती है। शरीरमें जिन धातु और तत्वोंकी अधिकता हो उनका अपकर्षण, जिनकी कमी है उनका आप्यापन या वर्धन कर धातु-साम्य करना पड़ता है। लिखा है "वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः" अर्थात् वातादि दोष, रसादि धातु, मल-मूत्र-स्वेदादि मल इन सबोंकी समान गुण पदार्थोंसे वृद्धि और विरुद्ध गुणके पदार्थोंसे क्षय होता है। इस प्रकार समानत्व और विरुद्धत्व द्रव्य-गुण-क्रिया भेदसे तीन प्रकारका हो सकता है। गुरु धातुगण गुरु-गुणके आहार-विहारके अभ्यासरसे बढ़ते हैं और लघु धातु समूह ह्रास को प्राप्त होते हैं। लघु धातु समूह लघु गुण आहार-विहारसे वृद्धि को प्राप्त होते और गुरु धातु समूह ह्रास को प्राप्त होते हैं। मांससे मांस, रक्तसे रक्त, मेदसे मेद, मज्जासे मज्जा, शुक्रसे शुक्र, आमगर्भ अण्डेसे गर्भकी, दूधसे जलतत्व प्रधान कफकी, दूधके साररूप घीसे रसादिके सार रूप शुक्रकी, जीवन्ती, काकोली आदि सोमात्मक वनस्पतियोंसे सोमात्मक कफ प्रधान स्नेह-शक्ति-पुरुषत्व ओज आदिकी, तथा मिर्च, चव्य, चित्रक आदिसे बुद्धि-मेधा और अग्निकी वृद्धि होती है। ये द्रव्य द्वारा वृद्धिके उदाहरण हुए। खजूर-छुहारा आदि पृथ्वी तत्व प्रधान होते हुए भी अपने गुणों स्निग्ध, जड़, शीतादि गुण विशिष्ट होनेसे इसी गुणके जल तत्व प्रधान कफको बढ़ाते हैं। यह गुण सम्बन्धी उदाहरण हुआ। क्रिया शारीरिक और मानसिक दो प्रकारकी होती है। दौड़ना-कूदना, चलना आदि शारीरिक क्रिया और काम-क्रोध-शोक-चिन्ता आदि मानसिक क्रिया हैं। दौड़ना धूपना गतिमान क्रिया हैं। इनसे गतिमान वायुकी वृद्धि होती है। काम-शोक-चिन्ता मानसिक क्षोभजनक होनेसे भी वायु बढ़ता है। क्रोध-ईर्षा सन्तापजनक हैं अतएव इनसे पित्त-की वृद्धि होती है। निद्रा आलस्य मन्द क्रिया वाले काम हैं इस-

लिये इनसे मन्द क्रिया वाले कफकी वृद्धि होती है। वातात्मक फसहीके चावलसे पार्थिव मांसादिका क्षय होता है, अग्नि तत्व प्रधान क्षारोंसे जलतत्व प्रधान कफका क्षय होता है। कांजी या सिरका स्वयं जल तत्व प्रधान होने पर भी कफके विरुद्ध लघु-रूक्ष-उष्ण होनेसे कफका क्षय करते हैं। निद्रा, आलस आदि स्थिर क्रिया होनेसे गतिक्रिया वाले वायुका क्षय करते हैं। शुक्र-क्षय होने पर दूध, घी तथा मधुर और स्निग्ध पदार्थ लेवें। मूत्र-क्षय पर ऊखका रस, वारुणी, मण्ड, मधुर-अम्ल-लवण रस और क्लेदजनक द्रव्य लेवें। पुरीपक्षय होने पर कुलथी, चौंरा, उड़द, जव, शाक तथा धान्याम्ल लेवें। द्रव्य समूह २० गुणवाले होने पर भी तीन श्रेणीके होते हैं। कोई द्रव्य अपने गुणोंसे दोष धातु आदिका शमन करते हैं, कोई प्रकोप करते हैं और कोई स्वास्थ्य-साधन करते हैं। संक्षेपसे यह गुणोंका विवरण हुआ।

गुणोंकी कार्यविधि—द्रव्योंमें गुणका होना अनिवार्य है। द्रव्य और गुण अलग अलग नहीं किये जा सकते। द्रव्यका द्रव्यत्व गुणोंके समवाय—पृथक न होने वाले नित्य सम्बन्धके साथ रहता है। पदार्थोंमें गुण और कर्मका मिले रहना समवायि-कारण कहलाता है। द्रव्य आधार है और गुण उसके आश्रित हैं। आधार और आधेयमें जो अपृथक् भाव होता है वह समवाय-सम्बन्ध कहलाता है। इस हिसावसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध अर्थ भी पदार्थके गुण और समवायि हैं; किन्तु ये अविनाशी हैं, पदार्थके नष्ट होने पर भी इनका नाश नहीं होगा। ऊपर द्रव्यके जो २० गुण बतलाये गये हैं वे द्रव्यके सामान्य गुण हैं। पदार्थका स्थूल रूप नष्ट होने पर भी इनकी विद्य-मानता रह सकती है। क्वाथ और अर्क करने पर पदार्थका पदार्थत्व नष्ट हो जाता है; किन्तु उसके गुण क्वाथ और

अर्कमें आ जाते हैं। इसी तरह पदार्थ जलाकर क्षार बनाने पर भी उसके मुख्य गुण बने रहते हैं।। उक्त बीस गुणोंके अतिरिक्त सेन्द्रिय सजीव पदार्थोंमें बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न गुण भी पाये जाते हैं। ये द्रव्यके **विशेष गुण** हैं। बुद्धिके अन्तर्गत स्मृति, चेतना, धृति, और अहंकारका भी समावेश होता है। इनके अतिरिक्त पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास भी गुण रूपसे रहते हैं, ये **परादि गुण** कहलाते हैं। इनकी उपयोगिता और उपयुक्तता विशेष न होनेसे ये गौण गुण समझे जाने चाहिये। प्रयत्न और चेष्टा यह पदार्थके **कर्म** हैं। इनका भी अन्तर्भाव गुणोंके समान ही द्रव्यमें रहना है। पदार्थके कार्य संयोग और वियोगमें कारणीभूत हैं और द्रव्यके आश्रय हैं।

जीवधारियोंका जीवन क्रम द्रव्योंके द्वारा ही चलता है; अतएव द्रव्योंका उनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। ये द्रव्य आहारादिके द्वारा मनुष्य शरीरमें जाकर अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ऊपर लिखे गुरु-लघु-शीत-उष्णादि गुणोंका असर जीवधारियोंमें द्रव्यके द्रव्यत्व प्रभावसे, कुछ गुण प्रभावसे और कुछ द्रव्य तथा गुण दोनोंके प्रभावसे कार्यकरी होते हैं। जैसे दन्तीसे विरेचन होता है और मणियोंके धारणसे विष प्रभाव क्षीण पड़ता है, यह द्रव्य-का प्रभाव हुआ। इसी तरह कटुरससे ज्वर की शान्ति होती है और अग्नि की उष्णतासे शीतका नाश होता है, यह पदार्थोंका गुण प्रभाव है। इसी तरह कालेमृगका चर्म शरीरमें उष्णता बढ़ाने और विद्युत शक्ति दौड़ानेमें सहायक होता है, यहां काला-पन गुण और चर्म द्रव्य है। यहां जो प्रभाव हुआ वह द्रव्य और गुण दोनोंके संयुक्त प्रभावसे हुआ। पदार्थोंका प्रभाव प्रकट करने की कार्यविधि काल, कर्म, वीर्य, अधिकरण और उपायके

अधीन विशेष रूपसे रहती है। कुछ द्रव्योंमें समय और ऋतुके अनुसार गुणोंकी विशेषता देखी जाती है। शरदऋतुमें सम्पूर्ण जड़ी बूटी अपने रस-वीर्य-प्रभावसे पूर्ण हो जाती हैं। वमन-विरेचनके द्रव्य ग्रीष्म ऋतुमें लानेसे उनमें क्रियाशक्ति अधिक रहती है। ग्रीष्म ऋतुमें वनस्पतियों की मंजरीमें रसादिका वास रहता है, वर्षामें उनके पत्तोंमें, वसन्तमें जड़ोंमें, शरद और ग्रीष्ममें गोंदमें, हेमन्तमें सारमें प्रभावशक्ति अधिक रहती है। इसी तरह वर्षामें वस्तिदेना, वसन्तमें वमन कराना, शरदमें विरेचन देना, शीतमें वृष्ययोग, ग्रीष्ममें स्नेहन कर्म कराना यह काल सम्बन्धी कार्यविधि है। किसी पदार्थको किस विधिसे दिया जाय तो वह अधिक गुण कारी होता है इस विचारको कर्म कहते हैं। जैसे नस्य देकर बलगम निकालनेसे शिरोविरेचनका कर्म सिद्ध होता है। कोई पदार्थ अपने शीत उष्णादिके गुणके द्वारा जो कार्य करते हैं वह उनका वीर्य कहलाता है। द्रव्य जिस देश-भूमि-पात्र अथवा देहके भाग विशेषमें प्रयुक्त होनेसे कार्य-सामर्थ्य दिखलाते हैं, उस विधिको अधिकरण कहते हैं। जैसे विन्ध्याचलकी औषधियाँ उष्ण वीर्य और हिमालयकी शीत वीर्य होती हैं। अथवा शिरोविरेचनका अधिकरण मस्तक और वमनका अधिकरण फुफ्फुस, विरेचनका अधिकरण आन्त्र है। औषधि-द्रव्य जिस रीति या विधानसे स्वरस-काढ़ा-क्षार आदि उपायसे दिये जाते अथवा औषधि प्रयोग लिटाकर या बैठे हुए आदि विधिसे कराये जाते हैं उसे उपाय कहते हैं। इन सब विधियोंसे उस द्रव्यका शरीर पर जो परिणाम होता है उसे फल कहते हैं।

रस

यद्यपि पदार्थ अपने गुणोंके द्वारा अपना प्रभाव उत्पन्न

करते हैं; किन्तु उनकी प्रत्यक्ष कार्यकारिणी शक्ति उनके रसके अधीन रहती है। किसी पदार्थको जीभमें लगाते ही जो स्वादकी अनुभूति होती है वह उसके रसके कारण है। "आप्योरसः" रस जल तन्मात्रका विशेष गुण है। यद्यपि जल स्वयं अव्यक्तरस है तथापि बीजरूपसे उसमें छहों रस विद्यमान रहते हैं। पदार्थ पञ्चमहाभूतोंके समवायसे उत्पन्न होते हैं और रस पदार्थके आश्रित रहते हैं; इसलिये रसों पर भी पञ्चभूतोंका असर रहता है। पञ्चभूतोंमें किसी न किसी दोषको शमन करने या प्रकुपित करनेकी शक्ति है; अतएव रस भी दोषों पर अपना प्रभाव डालते हैं। गुरु, लघु आदि गुण पृथ्वी आदि महाभूतोंके कारण द्रव्योंमें आते हैं, गुणोंके समान रस भी पदार्थाधीन हैं; अतएव सहचारी प्रभावके कारण रसोंमें भी गुरु-लघु आदि गुणोंका व्यपदेश (कथन) किया जाता है। सांसिद्धिक कठिन जातिवाला द्रव्य पृथ्वी तत्व प्रधान, सांसिद्धिक द्रव जातिवाला जल प्रधान, साँसिद्धिक उष्ण जातिवाला अग्नितत्वप्रधान, सांसिद्धिक चंचल जातिवाला वायुप्रधान, जिसे छू न सकें, जिसकी ठोकर हमारे शरीरमें अनुभव न हो ऐसे शब्द तन्मात्रिक परमाणुके सर्वव्यापक समूहको आकाश कहते हैं। द्रव्योंका विभाजित न हो सकनेवाला अंश परमाणु कहलाता है, वह नित्य और अविनाशी है। विच्छेद होकर कारणमें लीन नहीं हो सकता। सत्वादि गुणोंकी साम्यावस्थासे संकोच परि-भ्रमण जन्य कण रूपको छोड़ जलमें जलकण सदृश प्रकृतिमें घुस जाते हैं और सूक्ष्म होनेके कारण विच्छन्न नहीं हो सकते। सत्व-रज-तम तीनों गुण जिसमें समान हों ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म द्रववत् एकी भूत परमाणुओंके सर्वत्र व्यापक समष्टिरूप समूह-को प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति पदार्थोंसे पूर्ण है। पदार्थोंमें जो

रस होता है वह ईश्वरीय अंश या चेतनका स्वरूप है। वेद भी कहता है "रसो वै सः" पदार्थोंमें जो रस है वही ईश्वर रूप है। अर्थात् पदार्थोंका वह मुख्य अंश है। रस सूक्ष्म परमाणुओं द्वारा निर्मित होनेसे उनका स्वरूप या भार प्रकट नहीं होता, वह केवल अनुभूतिका विषय है। किन्तु व्यवहारमें कहा जाता है कि मधुररस भारी है, कटु हल्का है आदि। इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थोंमें लघु-गुरु आदि गुण होते हैं और रस भी पदार्थोंमें ही रहते हैं। अतएव भारी पदार्थके रसको भारी, हल्के पदार्थके रसको हल्का कहनेका सहचारी भावके कारण व्यवहार है। रस स्वयं पदार्थ नहीं पदार्थके आश्रयी हैं। यद्यपि रस जलीय पदार्थ है; परन्तु पदार्थों की बनावटमें पञ्चमहाभूत अपने पूर्व भूतके साथ उत्तरभूतमें अनुप्रवेश करते हैं। इसलिये पार्थिव पदार्थोंमें रसकी पूर्ण उपलब्धि होती है। जो रस जलमें अव्यक्त था वह पार्थिव पदार्थोंमें विकासको प्राप्त होकर मधुर-अम्ल आदि नामसे व्यक्त हो जाता है। आकाशसे गिरा जल भूमिस्पर्शसे पृथ्वीके परमाणुओंसे सम्बन्ध स्थापित करता है, वही रसोंके आरम्भका मूल है। अर्थात् वही आप्यरस जलके अतिरिक्त आकाश आदि भूत चतुष्टयके संसर्गसे विदग्ध होकर छः प्रकारका हो जाता है। वही मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय नामसे छः प्रकारका रस माना जाता है। किसी पदार्थके मुखमें रखते ही जिस रसके स्वादका अनुभव होता है वह उसका **प्रधान रस** माना जाता है, जिसका अनुभव पीछे होता है या अल्पप्रमाणमें रहनेके कारण कम अनुभव होता है, उसे **अनुरस** कहते हैं। जैसे आंवला मुंहमें रखते ही खट्टा मालूम होता है अतएव आंवलेका प्रधान रस अम्ल है; किन्तु आंवला खानेपर कुछ पानी पी लें तो उसमें एक प्रकारका मिठास अनुभवमें आता है; अतएव

आंवलेका अनुरस मधुर है। किसी गीली वस्तुका जो रस सूखने पर भी व्यक्त हो वह उसका प्रधान रस है और सूखने पर जो रस मालूम न पड़े वह उसका अनुरस है। जैसे पिप्पली गीली अवस्थामें मधुर मालूम पड़ती है किन्तु सूखने पर तिक्त; अतएव पिप्पलीका प्रधानरस तिक्त और मधुर अनुरस कहलावेगा; किसी पदार्थमें जो रस बहुत अल्पमात्रामें रहता है, वह उसका **अणुरस** कहलाता है। जैसे दूधमें सैकड़ा १ अंश लवण है, अतएव दुग्धमें लवणरस अणुरस है।

सृष्टिके सभी पदार्थोंके समान रस भी पञ्चमहाभूतोंके समवायसे उत्पन्न होते हैं। जलका अव्यक्त रस पंचमहाभूतोंके संयोगसे व्यक्त होता है। आधारकारणरूपसे जल सभी रसोंमें रहता है, किन्तु एक प्रधान और एक अप्रधानरूपमें दो महाभूत मिलकर एक एक रसकी उत्पत्ति करते हैं। प्रधानभूत अपनी विशिष्टतासे जलके साथ संयोगकर दूसरे भूतकी सहायतासे रस-सिद्धि करता है। इस प्रकार पृथ्वी और जल तत्वकी अधिकतासे मधुररस, पृथ्वी और अग्नितत्वकी प्रधानतासे अम्लरस, जल और अग्नि तत्वकी प्रधानतासे लवणरस, आकाश और वायु तत्वकी प्रधानतासे तिक्तरस, अग्नि और वायु तत्वके मेलसे कटु-रस और पृथ्वी तथा वायुके मेलसे कषायरसकी सिद्धि होती है। रासायनिक क्रिया द्वारा दो पदार्थोंके संयोगसे जो तीसरा पदार्थ सिद्ध होता है, वह उनके गुण-धर्मसे कभी कभी भिन्न होता है। इसीलिये अग्नि और जलके मेलसे जो लवण रस सिद्ध हुआ वह उष्ण हुआ। तथापि उसमें यदि अग्निकी उष्णता आयी तो जलकी पसीजनेके रूपमें अनुभूति भी बनी रही। यह महाभूतोंका अदृष्ट प्रभाव है। परस्पर विरुद्ध गुण विशिष्ट भूत मिलकर रसो-

त्पादन रूपी कार्य सम्पन्न कर सकते हैं; केवल द्रव्यस्वभाव ही रसोत्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता।

ये रस आहार द्वारा मनुष्य शरीरमें जाकर अपना प्रभाव प्रकट करते हैं; इसलिये आयुर्वेदमें पदार्थोंका रस जानना उस विज्ञानकी एक विशेषता है। **मधुर** रसवाले पदार्थ चिकने, स्निग्ध, प्रसरणशील और आल्हाद बढ़ाने वाले तथा शरीरको कोमल बनानेवाले होते हैं। इन्हें मुंहमें रखते ही मुंहमें लिपलिबापन बढ़ जाता है। जीवनीशक्ति बढ़ानेमें यह प्रधान हैं। इनसे कफकी वृद्धि होती है। **अम्लरस** वाले पदार्थोंके सेवनसे रोयें खड़े हो जाते, दांत खट्टे पड़ जाते, उन्हें देखते ही मुंहसे पानी छूटता है यह पसीना पैदा करते, मुंहमें तेजी लाते, मुंहका शोधन करते, गलेमें जलन और चुनचुनी पैदा करते हैं। **लवणरस** मुंहमें रखते ही घुलने लगता और मुह गीला कर देता है, विष्यन्दी है, मुंहमें जलन पैदा करता तथा शरीरमें लावण्य और कोमलता लाता है, इससे मुंह और कण्ठमें दाह होता है। किन्तु भोजनमें रुचि पैदा करता, कफको ढीला करता है और मृदुता उत्पन्न करता है। **कटुरस** जीभमें लगते ही मनको उद्विग्न कर देता, जीभमें चुनचुनाहट करता और खाने पर मुंह, आंख और नाकमें जलन होकर पानी टपकने लगता है। इसके सेवनसे शिर जकड़ा सा मालूम पड़ता है। **तिक्तरसके** खानेसे जिह्वाका स्वाद मारा जाता, अन्य रसका ज्ञान नहीं होता, मुंह सूखता; किन्तु मुंहको स्वच्छ करता है। इससे रोमांच भी होता है। **कषाय रसके** सेवनसे जीभ साफ होती; किन्तु जकड़ सी जाती है। जिह्वामें भारीपन आ जाता और रसज्ञान मन्द पड़ जाता है। गला बैठ जाता है, इसके सेवनसे हृदयमें खींचनेकी सी पीड़ा होती है।

रसोंकी **कार्यशक्ति** भी विचारणीय है। अग्नि और वायु-तत्वके संयोगसे बनने वाला कटुरस हलका अतएव ऊर्ध्व गामी और वमन कारक होता है। जैसे मैनफल और राई। पृथ्वी और जलतत्वसे उत्पन्न मधुर रस स्वभावतः भारी होता है। अतएव निम्नगामी और विरेचन कारक होता है; किन्तु ऐसे पदार्थ प्रायः मधुर होनेके कारण पित्तशामक और कफ कारक होते हैं। परन्तु विरेचनकी क्रिया बिना पित्तके नहीं हो सकती; अतएव ये हल्के विरेचक होते हैं। जैसे अंगूर, अंजीर, मुनक्का और रेंडी का तेल। पृथ्वी और अग्नितत्वसे उत्पन्न अम्लपदार्थ पृथ्वी-की गुरुताके कारण भारी तो होते हैं; किन्तु अग्नितत्वके कारण दोषोंको ऊपर उठाकर उत्क्लेद उत्पन्न करते हैं, जैसे आलूबुखारा। जल और अग्नितत्वके संयोगसे सिद्ध होने वाला लवण रस जलके निम्नगामी होनेके कारण दोषोंको अधोगामी करता, जलका आकर्षण करता और अग्नितत्वके कारण जलन भी पैदा करताहै। इसमें नीचे ले जाने और दोषोंको ऊपर उठानेकी भी शक्ति है। अर्थात् इनसे प्रायः वमन और विरेचन दोनों प्रकारकी क्रिया सम्पादित होती है। जैसे निशोथ, दन्ती। आकाश और वायु तत्वसे उत्पन्न तिक्त पदार्थ ऊर्ध्व गामी होते हैं; किन्तु हल्के होनेके कारण प्रायः वमनकारी होते हैं तथापि वच एवं अतीस ऐसे पदार्थ कभी कभी वमन भी लाते हैं। ऊर्ध्वगामी और रुक्ष होनेके कारण कफको सुखाते हैं। अग्नि और वायुतत्वकी अधिकतासे उत्पन्न कटुरस शोषण क्रिया सम्पादित करता है; इसीलिये शोथरोगमें आम सुखानेके लिये कटुरसका प्रयोग होता है। मुंहमें शोषण और जलन भी अग्नि और वायुके कारण होती है, जैसे कांसा। पृथ्वी और वायुतत्वकी प्रधानतासे उत्पन्न कषायरसमें भारी और हल्के दो विरुद्ध गुण सम्मिलित होते हैं; किन्तु वायुसे

पृथ्वीका गुण और शक्ति अधिक है अतएव यह भारी तो होता है; किन्तु वायुकी सहायता न पानेसे विरेचन नहीं करता; बल्कि आमका स्तम्भन और स्रोतसोंका अवरोध करता है। कटु-अम्ल और लवण रस अनुक्रमसे एकसे दूसरा अधिक उष्णवीर्य है, इसी तरह तिक्त-कषाय और मधुर क्रमसे अधिक अधिक शीत-वीर्य हैं। तिक्त-कटु और कषायरस क्रमशः अधिक अधिक रूक्ष और मलबद्ध करने वाले हैं। लवण-अम्ल और मधुर रस क्रमशः अधिक स्निग्ध हैं। लवण-कषाय और मधुर रस क्रमशः भारी हैं। अम्ल-कटु और तिक्त क्रमशः अधिक अधिक लघु हैं।

इस विषयका शास्त्र बहुत विस्तृत और जटिल है। रसोंके गुण-कर्म, उनके अधिक सेवनसे हानि-लाभ, रसोंके गण, रसोंका वातादि दोषोंपर प्रभाव, उनकी कार्यशक्ति, प्रकोप-शमनका रहस्य, रस और योनिका प्रभाव, ऋतुओंका रसोंपर प्रभाव, रसोंकी ६३ भेद कल्पना, रस गणोंकी कार्यशक्ति और उनका अपवाद आदि एक एक विषय इतने वैज्ञानिक हैं कि द्रव्यगुण निरूपणमें अन्य शास्त्रोंको आयुर्वेदसे बहुत कुछ ज्ञान भण्डार मिल सकता है। हम आहार द्वारा जिन पदार्थोंको ग्रहण करते हैं वे अपने रसके अनुसार क्रिया सम्पादित कर आहार रस बनानेमें सहायक होते हैं। यह तेजोभूत परम सूक्ष्म साररस पाचकरसकी सहायतासे रक्त बनानेवाला रस होता है और यकृत-प्लीहामें विशिष्ट क्रिया सम्पादन करता हुआ, हृदय और धमनियोंके द्वारा घूमने वाला रक्त बनता है यही शरीरमें नित्य जो क्षय-वृद्धिकी क्रिया होती रहती है, उसमें कमीकी पूर्ति करता है। इस रसकी कमीसे क्षीणता, हृत्कम्प और फुफ्फुस-विकार होते हैं। अधिक होनेसे आमविकार, शोथ, आमवातादि भी करता है। यह द्रव, स्नेहन,

जीवन, तर्पण तथा धारण आदि क्रिया कर शरीरमें सौम्यता लाने वाला है।

द्रव्योंकी अन्य प्रमुख शक्तियां—यद्यपि पदार्थोंके बीस गुण और कुछ विशेष गुण कहे गये हैं और उनका असर भी होता है। किन्तु द्रव्योंका रस उन गुणोंसे अधिक प्रत्यक्ष प्रभावशाली असर रखता है। रसके अतिरिक्त द्रव्योंमें वीर्य, विपाक और प्रभावकी जो शक्तियां रहती हैं उनका द्रव्य-गुण विचारमें उच्च स्थान है और वे सब वैज्ञानिक पद्धति पर अवस्थित हैं। पदार्थोंमें शीत और उष्ण भेदसे दो **वीर्य** होते हैं। जैसे संसारमें सूर्य और सोम शक्ति या अग्नि और जलकी शक्ति प्रधानतासे देखी जाती है वही पदार्थोंमें शीतवीर्य या उष्णवीर्यके रूपमें प्रकट होती है। किसी किसीका मत है कि वीर्य गुरु, स्निग्ध, हिम, मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण और तीक्ष्ण भेदसे आठ प्रकारका है; किन्तु इन आठोंका अन्तर्भाव उक्त उष्ण और शीतमें हो जाता है और व्यवहारमें भी लोग यही कहते हैं कि अमुक पदार्थ शीत है, अमुक उष्ण है, अतएव ये दो वीर्य ही प्रमुख हैं। ऊपरके निर्दिष्ट आठों गुण निरर्थक हैं। गुणोंको वीर्य नहीं कह सकते; क्योंकि उनमें स्वतन्त्र कार्यशक्ति नहीं है। 'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्' यहाँ येन तृतीया करण स्थानमें और वीर्य कर्तृस्थानमें है। अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ अपने गुणोंका सम्पादन करता है, उसे वीर्य कहते हैं। सुश्रुतने कहा है—

एतानिखलु वीर्याणि स्वबल गुणोत्कर्षा द्रसमभिभूयात्म कर्मदर्शयन्ति।

जैसे रेलगाड़ी स्वयं नहीं चलती बल्कि जल और अग्नि-संयोगसे उत्पन्न भाफकी शक्तिसे उसमें शक्तिकी उपलब्धि होती है, उसी तरह पदार्थोंमें रस और गुणोंके सहयोगसे जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह वीर्यरूपसे कार्य सम्पादन कराती है। वीर्यकी

शक्ति रससे अधिक होती है। समान्यतः पदार्थोंकी क्रिया रसके द्वारा सम्पादन होती है; किन्तु विशेष अवस्थामें रसकी शक्ति को दबा कर वीर्यकी शक्ति क्रिया सम्पादन कराती है। जैसे पिप्पली कटुरस वाली होनेसे उससे पित्तका प्रकोप होना चाहिये; किन्तु मृदुशीत होनेके कारण वह रसको अलग रख पित्तका शमन करती है। इसी तरह बिल्वादि पंचमूल कषाय तिक्त रस प्रधान होनेसे पित्तशामक होना चाहिये; किन्तु उष्ण वीर्य होनेके कारण इससे वायुका शमन होता है। कन्द मधुर होनेके कारण वायु शामक होनी चाहिये; किन्तु शीतवीर्य होनेसे वायुवर्धक है। जोहो; उष्णवीर्य पदार्थ भ्रम, तृषा, ग्लानि, स्वेद और दाह उत्पन्न करते हैं, किन्तु उष्णवीर्य होनेके कारण शीघ्रता पूर्वक अपनी क्रिया करते और शीघ्र आहार पचाते हैं। अपनी उष्णताके कारण वायुका नाश करते और कफको सुखाते हैं। इसी तरह शीतवीर्य पदार्थ शरीरमें प्रसन्नता बढ़ाते, जीवनीशक्ति उत्पन्न करते, स्रोतसोंका अवरोध और स्तम्भन कर रक्त और पित्तको बढ़ाते तथा रक्त शुद्ध करने वाले होते हैं।

रस और वीर्यके अतिरिक्त पदार्थोंमें एक और शक्ति होती है जिसके द्वारा पदार्थोंकी क्रियाशक्ति प्रकट होती है। इसे **विपाक** कहते हैं। आहारके पचने पर पहले जो रस बनता है वह अपने वीर्यके द्वारा जठराग्नि और पित्तरसकी उष्णताकी सहायता पाकर फिर पचता और उससे जो नया रस तैयार होता है अर्थात जठराग्निके योगसे रसोंका जो रसान्तर होता है उन रसोंके परिणामको विपाक कहते हैं। इस रसान्तर रूपी विपाकमें छः के बदले तीन ही रस रह जाते हैं। अर्थात् मधुर, अम्ल और कटु। मधुर और लवण रसका विपाक मधुर, अम्ल रसका अम्ल और तिक्त-कटु-कषाय रसोंका विपाक कटु होता है।

विपाक क्रियाके समय अनेक रसोंके संयोगसे दुर्बल रस बलवान रसके अधीन हो जाते हैं। प्राय: जिन द्रव्योंमें पृथ्वी और जल-की गुरुता विशेष होती है उनका विपाक मधुर होता है। अग्नि-वायु और आकाश तत्व वाले पदार्थ हलके होते हैं; अतएव इनका विपाक प्राय: कटु होता है। यद्यपि-साधारण नियम यही है कि किसी पदार्थका जो रस होता है, उसका विपाक भी वही होता है; किन्तु पदार्थोंकी बनावटकी विचित्रता और विशेषताके कारण इस सामान्य नियमके विपरीत भी देखा जाता है और वैसी दशामें उस पदार्थका गुण प्रभाव पूर्व रसके अनुकूल नहीं रहता। ऐसी दशामें विपाकका ही असर जोरदार होता है। जैसे कुलथी कषाय होनेके कारण उसका विपाक सामान्यत: कटु होना चाहिये; किन्तु होता अम्ल है, चावल मधुर रस होते हुए भी उसका विपाक अम्ल है, अतएव इनसे पेटमें एसिड पैदा होता और अम्लपित्तकी डकारें आती हैं। पृथ्वी और जल तत्व वाले पदार्थों का विपाक मधुर और वायु-अग्नि-आकाश तत्वप्रधान द्रव्यों-का विपाक कटु होता है; किन्तु जब इन दोनों प्रकारोंका मिश्रण होता है तब पृथ्वी और अग्नितत्वसे उत्पन्न विपाक अम्ल होता है। लवणका विपाक यद्यपि मधुर होता है, तो भी उसकी उष्णवीर्यताके कारण मधुर विरोधी रक्तपित्तकी उत्पत्ति होती है। जब तक विपाक नहीं हो जाता तब तक लवणादि-तिक्तादिका आदि रस अपना काम करता रहता है। इस तरह औषधि प्रभावमें मूलरस और विपाक रस दोनोंकी अपेक्षा रहती है। जैसे पिप्पली सेवन करते ही अपने कटुरसके कारण गलेके कफ-को निकालती, मुख शुद्धि करती और कटुरसके अन्य कार्य भी करती हैं; किन्तु विपाक होने पर मधुर विपाकके कारण वृषत्व-अर्थात् वीर्यवर्धक-गुण सम्पादित करती है। जिन पदार्थोंका

मूल रस और विपाक रस समान होता है उनकी क्रिया अधिक ज़ोरदार रहती है; किन्तु विपाक भिन्न होनेसे मूल रसका कार्य दुर्बल और विपाकका प्रबल होता है। जो गुण मधुर, अम्ल और कटुरसके होते हैं वही मधुर-अम्ल और कटु विपाकवालोंके भी होते हैं।

पदार्थोंमें रस-वीर्य और विपाकके अतिरिक्त एक प्रभावकी भी शक्ति होती है। कुछ पदार्थ अपना गुणावगुण कार्य अपने आश्रित रसके द्वारा कुछ वीर्यके द्वारा और कुछ विपाकके द्वारा सम्पादित करते हैं; किन्तु कुछ पदार्थोंमें एक ऐसी भी अचिन्त्यशक्ति पायी जाती है जिसके कारण वे पदार्थ उक्त तीनोंकी परवाह न कर अपनी विशेष शक्तिके द्वारा विशेष कार्य सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं। कभी कभी दो पदार्थ एक ही गुण धर्मके होने पर भी परिणाममें भिन्न प्रकारका असर या परिणाम प्रकट करते हैं; इस विशेष शक्तिको ही **प्रभाव** कहते हैं। इस प्रभावका विशेष ढंगसे विचार हो तो सम्भवतः विटामिनोंके विचारको कुछ स्थिर सिद्धान्तका सहारा मिल जाय। इस प्रभावका रहस्य कुछ इतना जटिल है कि साधारणतः समझना कठिन है। रस-वीर्य-विपाकके ऊपर पदार्थकी विशेष शक्ति प्रकाशका नाम प्रभाव है। यह प्रभाव पदार्थकी बनावटके कारण होता है पर शक्ति न तो उनके रसके, न वीर्यके और न विपाकके गुणके अनुकूल होती है। जैसे मधु अपने कषायरसके कारण पित्तका शमन करता है यह रसके द्वारा कार्य सम्पादन हुआ, वही मधु कटु विपाकके कारण कफका नाश करता है, यह मधुके विपाकके द्वारा कार्य सम्पादन हुआ। इसी प्रकार शीतवीर्य होनेके कारण मधु बलकारक, पौष्टिक और विषहारक है; किन्तु त्रिदोष हारी होते हुए भी कुछ वातकारक है, यह

वीर्यका उदाहरण हुआ। किन्तु मधुर और शीत होते हुए भी अपने प्रभावसे अग्निको प्रदीप्त करनेवाला है। अम्लरस और उष्णवीर्य होनेपर भी मद्यसे दूधकी वृद्धि होती है। चित्रकका रस कटु, विपाक भी कटु और वीर्य उष्ण है। दन्तीमूलमें भी यही सब बातें हैं; परन्तु दन्तीमूलका सेवन करनेसे विरेचन होता है, चीतासे नहीं। मुलेठी और मुनक्के का रस-वीर्य-विपाक समान हैं, किन्तु मुनक्का रेचक है, मुलेठी नहीं। दूध और घीका रस-वीर्य-विपाक समान है किन्तु घृत अग्निदीपक और दूध अग्निसन्द करने वाला है। हर्रीको वमनकारी होना चाहिये था; परन्तु अपने प्रभावसे वह विरेचक है। विषसे विषका नाश होना भी प्रभावके ही कारण है। शरीर पर नीलम-पन्ना-माणिक आदि रत्न धारणसे ग्रह प्रभाव, विषदोष तथा शूलादि विकार नष्ट होते हैं यह भी उनका प्रभाव ही है।

इन बातोंके विचारमें द्रव्यकी प्रधानता है; क्योंकि उसकी अवस्था स्थिर और रसादिकी अस्थिर रहती है। द्रव्यको हम इन्द्रियोंसे देख सकते हैं, किन्तु रसादिको नहीं। यही नहीं पकाना-कूटना आदि क्रिया द्रव्य की ही होती है। तथापि रसोंका उपयोग आहारमें, दोषोंमें, पदार्थ पहचाननेमें होता है, वीर्यकी शक्ति बृंहण-रसायन आदिमें कार्यकरी होती है। विपाक ठीक न होनेसे शारीरिक धातुओंकी उत्पत्ति और स्थिति नहीं हो सकती। इस लिये इन सबोंका आवश्यकतानुसार महत्व है। जिन पदार्थोंका रस और विपाक मधुर होता है साधारणत: वे पदार्थ शीतवीर्य होते हैं, जिनका रस और विपाक अम्ल हो वे प्राय: उष्णवीर्य होते हैं। कटु रस और विपाक वाले पदार्थों का वीर्य भी प्राय: उष्ण होता है। मधुर-तिक्त और कषाय रस शीतवीर्य तथा अम्ल-लवण और कटुरस उष्णवीर्य होते हैं। कुछ पदार्थों की बनावट-

में विचित्रता होनेके कारण पञ्चमहाभूतोंके संयोग अनेक प्रकार और परिमाणमें होनेसे कुछ पदार्थोंके गुणोंमें विचित्रता आ जाती है और उनका प्रभाव भी विचित्र प्रकारका हो जाता है। ऐसे पदार्थ **विचित्र प्रत्ययारब्धकारी** कहलाते हैं। जैसे मछली-का मांस मधुररस और गुरु गुण वाला होने पर भी वह शीतवीर्य नहीं बल्कि विचित्र प्रत्ययारब्धकारी होनेसे उष्णवीर्य है। सिंह-का मांस स्वादु और गुरु है; किन्तु उसके अनुकूल विपाक मधुर नहीं कटु विपाक है। परन्तु शूकरका मांस मधुर और गुरु होकर मधुर विपाक वाला ही है। इसके विपरीत जब पदार्थकी रचनाकी घटना रसोंके महाभूतोंकी समानतासे होती है तब वे पदार्थ **"रसादिसमान प्रत्ययारब्ध"** कहलाते हैं। ऐसे पदार्थ साधा-रणतः रस-विपाक-वीर्यके गुणानुसार कार्य करते हैं। जैसे गेहूं मधुररस और गुरु-गुणवाला है तथा उसका विपाक भी मधुर ही है और मधुररसके अनुकूल वह वायुनाशक भी है। किन्तु यव मधुर और गुरु होते हुए लघुगुण सम्पन्न वायुका नाश तो करता है; परन्तु विचित्र प्रत्ययारब्धकारी होनेसे वायुको बढ़ानेका भी काम करता है। दूध मधुररस और गुरु होनेके कारण और बनावट समान-प्रत्ययारब्धकारी होनेके कारण उसका वीर्य भी मधुररसानुगामी शीत है। इस प्रकार रसादिके समान पदार्थकी बनावटका भी विचार करना पड़ता है। यह कार्य प्रयोगों और अनुभवोंके द्वारा साध्य होता है।

ऊपरके विवरणमें कुछ बातोंका निर्देश यह बतलानेके लिये किया गया है कि पूर्वीय विज्ञानकी भी एक परम्परा है, उसके विचारकी एक स्वतन्त्र शैली है, वह तर्क पूर्ण और सत्याधार पर है। ये सब बातें उसकी वैज्ञानिकता प्रतिपादित करती हैं। किसी खास पद्धतिसे स्थूल समता न रखनेसे ही कोई विज्ञान

अवैज्ञानिक नहीं हो सकता। आइनस्टाइन जब भौतिक विचारोंमें न्यूटनसे दूर ले आया है तब उन्हें आयुर्वेदके समीप भी पहुँचा दिया है। सम्भव है यह सामीप्य आगे और भी बढ़कर विचार साम्य स्थापित कर सके।

त्रिदोष सिद्धान्त

दृष्टिभेद—आयुर्वेदका त्रिदोष सिद्धान्त जितना ही वैज्ञानिक है उतना ही जटिल और गम्भीर भी है। यह आयुर्वेदका मूलाधार है, इसे त्यागकर आयुर्वेद एक पग भी नहीं चल सकता। इसे न समझ सकनेके कारण कुछ डाक्टर लोग इसे अवैज्ञानिक कहने लग जाते हैं। आयुर्वेदकी ऐतिहासिक परम्पराकी कालगणना करना अत्यन्त प्राचीनताके कारण असम्भव सा है। तब यही कहा जा सकता है कि इसका ज्ञान श्रोत वेदोंसे प्रवाहित होता है और ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनीकुमार और इन्द्रसे होता हुआ अनेक शाखाओंसे महर्षि भरद्वाज और धन्वन्तरिके द्वारा यह लोक कल्याणके लिये प्रचलित हुआ है। आयुर्वेदके इतिहासके साथ ही त्रिदोष सिद्धान्तका भी इतिहास अत्यन्त प्राचीन है; और उसका विकास दो हज़ार वर्ष पहले तक बराबर होता रहा है। कोई ढाई हज़ार वर्ष पहले इस सिद्धान्त की चर्चा मिश्र और यूनान पहुँची; किन्तु वहाँके विद्वान इसे ठीक न समझ सके। उन्होंने उसका अशुद्ध और भ्रमात्मक अनुवाद प्रचलित कर यूरोपके देशों तक पहुँचाया। उसी ह्यूमरल थ्योरीके आधार पर पश्चिमी वैज्ञानिक आज भी उसे ठीक न समझ अवैज्ञानिक कहते हैं। अरबमें यह सिद्धान्त आठवीं शताब्दीमें चरक और सुश्रुतके अनुवाद रूपमें पहुँचा। वहां वालोंने सुश्रुतके आधार पर तीनकी जगह रक्तको भी मिला कर चार दोषोंकी कल्पना प्रच-

लित की। सन् १९२५ में संयुक्तप्रान्तीय सरकारने देशी चिकित्सा पद्धतियोंकी जांचके लिये एक इनकायरी कमिटी बैठायी थी। उसने अपनी रिपोर्टमें लिखा है कि "हम भारतीय पद्धतियोंको अवैज्ञानिक और अतार्किक नहीं समझते। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतिके हिमायती त्रिदोष सिद्धान्तको अवैज्ञानिक और इम्पीरिकल कहते हैं। किन्तु आधुनिक फिजियालोजी वालोंकी सेलुलर थ्योरी (शरीरकी बनावट सेल्सके द्वारा माननेका सिद्धान्त) के रहते हुए भी आयुर्वेद ज्ञाता आज भी वात-पित्त-कफके सिद्धान्तको मानते जाते हैं। त्रिदोष-सिद्धान्तका आयुर्वेदमें वही स्थान है जो पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतिमें सेलुलर थ्योरीका। आयुर्वेदज्ञ ह्यूमरल थ्योरीके विण्ड-बाइल एण्ड फ्लेजमका अनुवाद वात-पित्त-कफ नहीं समझते। वात-पित्त-कफके विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि त्रिदोष सिद्धान्तमें शारीरिक तथा मानसिक कार्योंका सम्मिश्रण है। आधुनिक पाश्चात्य विचारसे शारीरिक तथा मानसिक कार्य अलग रखे जाते हैं। फिजियालोजीका सम्बन्ध मुख्यतः शारीरिक कार्योंसे है, और मनोविज्ञानका सम्बन्ध मानसिक कार्योंसे है। इस तात्विक भेदका कारण यह है कि हिन्दू मनोवैज्ञानिक भौतिक शरीरमात्रको ही पुरुष नहीं समझते; प्रत्युत वह मस्तिष्क और आत्माका स्थान भी भौतिक शरीर वाले पुरुषमें मानते हैं। प्राचीन विज्ञान जीवनकी दृष्टिसे संसारका अध्ययन करता है; किन्तु अर्वाचीन विज्ञान संसारका अध्ययन उन रूपोंमें अवलोकन द्वारा करता है जिनसे जीवनकी अभिव्यक्ति होती है। प्रथम जीवनका अध्ययन करता है और रूपोंमें जीवन भी अभि-व्यक्त देखता है। द्वितीय (पश्चिमीविज्ञान) रूपोंका अध्ययन करता है और जामेट्रीके स्वयंसिद्ध सिद्धान्तसे रूपोंकी वृद्धि सिद्ध

करनेका व्यापक मार्ग ढूंढता है। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति स्पष्ट पर्यवेक्षण, तीव्रन्यायबुद्धि, समान गुणवाली वस्तुओंको एकत्रित करने तथा वस्तुओंको विषम भागोंमें बांटनेवाले भेद जाननेका प्रयत्न करती है। इसकेलिये अर्वाचीन विज्ञानको सीमित इन्द्रियोंकी सहायता और सूक्ष्म औजारोंकी आवश्यकता पड़ती है। अधिक सूक्ष्म तौलों का आविष्कार होता है। इसके लिये सामञ्जस्यके ऐसे सूक्ष्म ढङ्ग निकाले जाते हैं कि पूर्ण निर्दोषिताके अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं। किन्तु प्राचीन विज्ञान औजारोंकी आवश्यकता नहीं समझता। वह रूपोंके विकासका अध्ययन नहीं करता, उसे रूप नहीं जीवन पढ़ना पड़ता है। ऐसे अध्ययनके लिये उसे स्वयं अपना तथा अपने जीवनका विकास करना पड़ता है। क्योंकि जीवनकी तौल जीवन ही कर सकता है, और केवल जीवन ही जीवित जन्तुओंकी गतिका उत्तर दे सकता है। उसका कर्त्तव्य अपने विकास द्वारा अपने स्वभावकी विशेषताओंको निहित दैवीशक्तिको व्यक्त करना है। इन्हीं शक्तियों द्वारा उसका अन्वेषण सम्भव है। सारांश यह कि प्राचीन विज्ञान ऊपरसे नीचे तथा अर्वाचीन विज्ञान नीचेसे ऊपर काम करता है। किन्तु इसीमें इस बातकी आशा है कि दोनों मिलकर चलेंगे। इन्हीं कारणोंसे हम प्राचीन विज्ञानको आधुनिक पाश्चात्य विज्ञानमें विलुप्त करनेके बहुत विरुद्ध हैं। हमारे विचारसे त्रिदोष सिद्धान्तकी नींव पर आयुर्वैदिक पद्धति खड़ी है। यह अवश्य है कि आयुर्वैदिक विद्वान पश्चिमी फिजियालोजी और एनाटमीके मूल सिद्धान्तोंको पढ़कर अपने ज्ञानकी वृद्धि करें और पाश्चात्य डाक्टर भी प्राचीन शारीर और शारीर-क्रिया विज्ञान पढ़कर लाभ उठावें।" इससे स्पष्ट है कि नयी पुरानी विचार धारा स्वतन्त्र रूपसे प्रवाहित होती है, दोनोंमें

तथ्य है। एक दूसरेको समझकर दोष दिखानेके बदले उनसे लाभ उठानेकी आवश्यकता है, दोष दर्शनकी नहीं। भारतीय विज्ञानने भूतकालमें अपना प्रभाव विश्वव्यापी प्रकट किया था और आशा यही है कि स्वतन्त्र और सुविधाजनक वायुमण्डल पाकर वह फिर भी अपने प्रभावकी पुनरावृत्ति करेगा।

त्रिदोष परम्परा—भारतवासियोंकी दृष्टि सदा ऊँची रही है; उन्होंने सूक्ष्मसे स्थूलको देखनेकी इच्छा की है। परमात्मासे सम्बन्ध मिलाकर अपनेको देखा है; किन्तु उसने हवाई किला नहीं बाँधा। न्याय और वैशेषिकमें द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय और अभाव सात पदार्थ माने जाते हैं। किन्तु आयुर्वेद अभावको इसीलिये नहीं मानता क्योंकि भाव बिना अभाव नहीं होता। शेष छः में आयुर्वेद पहले तीनको प्रधान पदार्थ और पिछले तीन को उप पदार्थ कहता है। इनमें द्रव्य-विशिष्ट प्रधान है। गुण-कर्म द्रव्याश्रित हैं। सत्व-रज-तम तीन प्रकृतिके प्रधान गुण या मूल प्रकृति हैं। महत्तत्व-बुद्धि, अहंकार तथा पाँच तन्मात्रा मिलकर सात पदार्थोंको प्रकृति विकृति कहते हैं। पंच महाभूत, दश इन्द्रियाँ और मन मिलाकर १६ केवल विकृति हैं। सांख्यके २४ पदार्थोंमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध भी हैं। अतएव पदार्थके गुणोंमें रसोंका भी अन्तर्भाव होता है। इन रसोंका प्रभाव वात-पित्त-कफ पर पड़ता है। कहा भी है—
"तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्। कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।" अर्थात् मधुर, लवण और अम्ल रस वायुको नष्ट करते और तिक्त-कटु-कषाय वायुको बढ़ाते हैं। तिक्त-कटु-कषाय रस कफको नष्ट करते और मधुर-लवण-अम्ल कफको बढ़ाते हैं। कषाय-तिक्त-मधुर रस पित्तको नष्ट करते और लवण-अम्ल-कटु पित्तको बढ़ाते हैं। इसी तरह आयुर्वेदका मूल सूत्र है कि वात-

पित्त और कफ सम्पूर्ण **मानव शरीरमें व्याप्त** हैं और ये प्रकृतिभूत अविकृत अवस्थामें रहने पर शरीरको चलाते हैं। बल-वर्ण-सुख उत्पन्न कर धारण और वर्धन करते हैं और ये ही विकृत होकर शरीरमें रोगोत्पत्ति कर उसे नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार ये शरीर रक्षाके और आयुर्वेदके मूल सूत्र रूप हैं। इन वात-पित्त-कफ पर समय और **ऋतुओंका भी प्रभाव** पड़ता है। वर्षामें पित्तका संचय, शरदमें प्रकोप और हेमन्तमें शमन होता है। शिशिरमें कफका संचय, वसन्तमें प्रकोप और ग्रीष्ममें शमन होता है। ग्रीष्ममें वायुका संचय, वर्षामें प्रकोप और शरदमें शमन होता है। यही नहीं दिनमें सबेरे ६ से १० और रातमें ६ से १० बजे तक कफका प्रभाव, दिन और रातमें १० बजेसे २ बजे तक पित्तका प्रभाव और दिनमें तथा रातमें २ से ६ बजे तक वातका प्रभाव शरीरमें दृष्टिगोचर होता है। **अवस्थानुसार** भी शरीरमें उनका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बालकपनमें कफ की क्रिया, युवावस्थामें पित्तकी और वृद्धावस्थामें वायुकी क्रिया विशेष परिलक्षित होती है। **आहार** भी इनके प्रभावसे खाली नहीं। भोजन करते ही मण्डक्रिया होनेमें कफकी, पचन अवस्था में पित्तकी और मल-मूत्र-रस विभागके समय वायुकी क्रिया विशेषतासे होती है। यद्यपि वे सारे शरीरमें व्याप्त हैं, तथापि वायुका विशेष **अधिष्ठान** वस्तिदेशमें, पित्तका आँतों और यकृत-प्लीहामें तथा कफका फुफ्फुसादि उर-प्रदेशमें अधिष्ठान रहता है। इनके प्रभावसे **जठराग्नि** की शक्ति भी प्रभावित होती है। वायु से जठराग्नि विषम, पित्तसे तीक्ष्ण और कफसे मन्द होता है; किन्तु इनकी समानतासे जठराग्नि समान अवस्थामें रहता है। वायुके प्रभावसे हमारा **कोठा** क्रूर, पित्तके प्रभावसे मृदु और कफके प्रभावसे मध्य रहता है, उसीके

अनुसार मलनिष्कासन क्रिया सम्पन्न होती है। यही नहीं माता-पिताके संयोगसे जब **गर्भसम्भव** होता है, उस समयकी रज-वीर्यकी दोषपरिस्थितिके अनुसार ही मनुष्य प्रकृति बनती है। वायुकी अधिकतासे हीन प्रकृति, पित्तप्रभावसे मध्यम और पोषण-शील कफके प्रभावसे उत्तम तथा समधातुसे श्रेष्ठ प्रकृति बनती है। हमारे शरीरकी रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र **धातु** और मल-मूत्र-स्वेद **मल** इसी कारणसे दूष्य कहलाते हैं, क्योंकि दोषोंके प्रभावसे ये दूषित हुआ करते हैं। इतनी व्यापक और शक्तिसम्पन्न वस्तुका अस्तित्व न हो, कल्पना प्रसूत या झूठ विश्वास हो वह कभी सम्भव नहीं हो सकता। वेदोंसे ही इसके अस्तित्वका प्रमाण आरम्भ होता है। अति प्राचीन माने जाने वाले ऋग्वेद काही एक प्रमाण बस होगा—

त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा,
त्रिः पार्थिवानि त्रिरुदत्त मद्भ्यः।
ओमानं शंयो ममकाय सूनवे,
त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती॥

इसमें देव वैद्य अश्विनीकुमारोंसे देवगुरु वृहस्पति द्वारा प्रार्थना की गयी है कि तीन दिव्य भेषज, तीन पार्थिव और तीन जलीय भेषज देकर हमारे पुत्रशंयुके तीनों दोषोंको शर्म अर्थात् आरोग्य पूर्ण बनाइये। 'त्रिधातु' शब्दकी व्याख्या करते हुए सायनाचार्य कहते हैं "त्रिधातु वात पित्त श्लेष्म धातुत्रय शमन विषयम्" छान्दोग्य उपनिषद्में भी है "अनिलानल सोमास्त्रयस्तपन्ति पृथिवी मनूपाः द्वा वृबूकं वहतः पुरीषम्।"

ऊपरके वर्णनसे त्रिदोष सिद्धान्तकी प्राचीनता और उपयोगी अस्तित्व तो सिद्ध हुआ; किन्तु उसकी प्रामाणिकता भी सिद्ध होनी चाहिये। पञ्चतत्वोंसे बने हुए शरीरमें उनकी क्रिया निरन्तर

होती रहती है। श्वास-प्रश्वासके लिये वायु, आहार पाचनके लिये उत्ताप और संघात तथा प्रक्षालनके लिये जल आवश्यक होता है। शरीरमें इनकी दृश्य-अदृश्य क्रियाका अनुभव होता है। शरीर और सृष्टि निर्माणमें आकाश और आत्मा अव्यक्त कोटिमें और पृथ्वी कार्यकोटिमें रही। शेष, वायु, अग्नि और जल ये कारण कोटिमें रहे। ये तीनों व्यक्त जगतके व्यक्त कारण हैं। पृथ्वीके ऊपर वर्त्तमान प्रत्येक वस्तुमें इन तीनोंकी प्रधान शक्तियां क्रिया-शक्ति, पाचनशक्ति और संघातशक्ति कारणरूपसे विद्यमान है। संसारकी स्थितिके लिये इन तीनोंकी अनिवार्य आवश्यकता है। भारतीय दृष्टिकोण सूक्ष्मसे स्थूलकी ओर परम्परा बनाये रखता है। उसकी परम्परा आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपकी होती है। अधिष्ठातृ देवता रूपमें जो वायु, सूर्य और सोम या चन्द्र थे, आधिभौतिक, रूपमें वे वायु, अग्नि और जलके रूपमें आये और इन्हें द्रव्यत्व प्राप्त हुआ। हमारे शरीरमें यही अपनी शक्तिके सहित वायु, पित्त और श्लेष्माके रूपमें विद्यमान हैं। ये शरीर ही नहीं संसारकी प्रत्येक वस्तुको धारण कर पोषण करते इसीसे इन्हें धातु या त्रिधातु कहते हैं। सुश्रुत सूत्र स्थानके २१ वें अध्यायमें स्पष्ट कहा गया है कि शरीरस्थ पित्त ही अग्नि है। वही शरीरमें दहन और पचनका काम करता है। जब शरीरमें इस अग्निकी कमी पड़ जाती है तब तत्समान गुणवाले क्षारादि देकर उसकी समता बनायी रखी जाती है। जब वह शरीरमें आवश्यकतासे अधिक हो जाता है तब शीतोपचारके द्वारा शान्त किया जाता है। यही **अन्तराग्नि**, यही पाचकाग्नि, यही आक्साइडेशन (पचन) करानेवाले आक्सिजनका जनक "अदृष्ट हेतुकेन विशेषेण पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तम्" अदृष्ट आत्मा प्रेरित है। यही आहार द्रवसे ग्रन्थि सम्भूत पचनोपयोगी अम्ल-

रस (हैड्रोक्लोरिकएसिड) तैयार करता है। यही दोष-रस-मूत्र-पुरीषादि दूष्योंके मलोंको आहार द्रवसे निकाल नाक, कान, आंख आदि के मलरूपमें बाहर करता और सारभूत अंशको शरीरमें आत्म-सात कराता है। शरीरके मध्य भागमें रहते हुए भी सारे शरीरमें दीपक प्रकाशके समान अग्नि कार्यकी क्रियाएँ कराता है। 'श्लिष' धातुसे निकले **श्लेष्मा** का अर्थ है, मिलना-मिलाना-चिपकाना-इकट्ठा करना। यह जलका विशेष गुण है। आमाशय और उसके ऊपर इसका स्थान है। अन्नसंघातको भेदकर द्रव कर शरीरमें लीन होने योग्य बनाना फुफ्फुस, शिर, कण्ठ और सम्पूर्ण सन्धियोंको स्निग्ध रख उदक कर्मसे शरीरको आप्यायित करना, पालन करना इसका काम है। **वायु** "वा" चलना बहना धातुसे बना है यह गति-विक्षेप क्रिया द्वारा वाह्य जगतके समान शरीरकी भी क्रियाएँ सम्पादित कराता है। यही सम्पूर्ण शारीरिक चेष्टाओंका प्रवर्तक अतएव प्राणियोंका प्राण संचालक है। वहन, पूरण, विवेक, धारण इसीके सहारे होते हैं। सूर्य-चन्द्र और वायुके ही कारण काल, ऋतु, रस, दोष, देह और बल-की उत्पत्ति होती है। चन्द्र अपनी विसर्ग (प्रदान), सूर्य आदान (ग्रहण) और वायु विक्षेप द्वारा क्रियाएँ सम्पादित कराते हैं। इसीसे वाह्य जगतके काल आदिका प्रभाव शरीरस्थ वात-पित्त-कफ पर भी पड़ता है। विशेष समयमें विशेष व्याधियोंकी उत्पत्तिका रहस्य भी इससे खुलता है; और ऋतु आदिके विचार-से आहार-विहारके परिवर्तनका रहस्य भी इसीमें समाया है। गम्भीरतासे इस रहस्यको समझनेसे आरोग्यरक्षा और चिकित्सा-के सूत्र हाथ लगते हैं। इसीसे चरकने कहा है कि ऐसा कोई रोग नहीं जो वात-पित्त-कफकी विकृतिके विना उत्पन्न हो सके। जिस प्रकार आकाशमें उड़ने वाला पक्षी चाहे जितने वेगसे और चाहे

जितनी दूर तक उड़े; परन्तु उसकी छाया बराबर उसके पीछे लगी रहती है, उसी प्रकार विकारोंके पीछेवात-पित्त-कफ लगे रहते हैं। जैसे वायु-अग्नि और जलकी विषमतासे पृथ्वीके स्वरूप स्थिर नहीं रह सकते, उसी तरह शरीरमें भी इनकी विकृतिसे रोग होना अनिवार्य है। इसीलिये आयुर्वेदमें कहा गया है कि काल-अर्थ और कर्ममें हीनयोग, मिथ्यायोग और अतियोग होकर शारीरिक वात-पित्त-कफमें विकृति होती है और उससे रोग उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत काल-अर्थ और कर्मका सम्यक् योग होनेसे-शरीरमें दोष साम्य रहनेसे आरोग्यता कायम रहती है।

रोगस्तु दोष वैशम्यं दोष साम्य मरोगता।

दोष वैषम्य दूर कर शरीरमें धातु-साम्य लाना आयुर्वैदिक चिकित्साका मूल सूत्र है। इसीलिये त्रिदोष विचार भारतीय चिकित्साका मूलाधार है। जिस क्रिया द्वारा शारीरिक धातुओंमें समानता आवे, विकारोंमें वैसे ही कर्म कर चिकित्सा करनी पड़ती है। ऐसा करते हुए उल्वण या बढ़े हुए दोषोंको इस प्रकार शमन करना पड़ता है कि दूसरे दोष उभड़ने न पावें। वही सच्ची चिकित्सा है। जिस चिकित्सासे एक व्याधि तो मिटे; किन्तु दोषोंको उभाड़ कर वह दूसरी व्याधि खड़ी कर दे वह सच्ची चिकित्सा नहीं।

यात्युदीर्णं शमयति व्याधिं नान्यमुदीरयेत्
सा क्रिया नतु या व्याधिं हरत्यन्य मुदीरयेत्॥ (सुश्रुत)

दोषोंका विचारकर चिकित्सा करनेसे ही ऐसा हो सकता है। दोष, दूष्य, प्रकृति आदिका विचार न कर सभी ज्वरोंमें कुनैन देनेसे जो उपद्रव होते हैं वे दोष विचार पूर्वक कार्य किया जाय तो न हों। यही नहीं नयी नयी व्याधियोंके उत्पन्न होने पर अथवा व्याधिका नाम निर्णय न होने पर भी चिकित्सकोंको

किं कर्तव्यविमूढ़ न होना पड़े, यदि वे दोष विज्ञानको समझ कर अपनानेका उद्योग करें। आयुर्वैदिक चिकित्सा रोगमूलक नहीं दोषमूलक है। रोगमूलक चिकित्सामें जबतक रोगका विशेष ज्ञान न हो जाय तब तक कोई उपाय नहीं किया जा सकता। इन-फ्लुएञ्जा, न्यूमोनियां, बेरीबेरी-आदि नये नामोंसे रोग सामने आने पर भी त्रिदोष ज्ञानके सहारे वैद्य घबड़ाते नहीं और उनकी सफल चिकित्सा कर लेते हैं। दोषसामान्य, रोगसामान्य, रोगिसामान्य और चिकित्सा सामान्यका ज्ञान आयुर्वेदको ही प्राप्त है। जिस प्रकार साम्प्रदायिक द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वादका मूल वेदोंमें है उसी प्रकार इस त्रिदोष या त्रिधातु वादका भी मूल वेदोंमें है। इन्हें पश्चिमी विज्ञानके किसी पदार्थके अन्तर्गत करनेकी चेष्टा करना व्यर्थ है। अब तक किसी दर्शनकारने भी ऐसा करनेका प्रयत्न नहीं किया। इस वादकी सृष्टि भौतिक जगतके कल्याणके लिये है। ये शारीरिक दोष हैं; अतः शरीरके साथ ही इनका सम्बन्ध है। सत्व, रज, तम सूक्ष्म जगतके पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध मनसे है। सत्वसे तो कोई विकार होता नहीं; किन्तु आयुर्वेदाचार्योंने रज और तमको मानसिक दोष मान कर उनकी शान्तिके लिये अध्यात्मिक उपाय बताये हैं—

धी धैर्यात्मादि विज्ञानं मनो दोषौषधं परम्॥

शारीरिक दोषोंका अधिष्ठान शरीर और मानसिक दोषोंका अधिष्ठान मन है; और उनका उपाय, बुद्धिपूर्वक धैर्य रखना और अध्यात्म विचार करना है।

त्रिदोषोंका स्वरूप ज्ञान—ऊपरके वर्णनसे मालूम पड़ेगा कि त्रिदोषोंका शरीरमें व्याप्त होना स्वाभाविक और विज्ञान-सम्मत है और शरीर रूपी मकानको तीन खम्भोंके सहारे यह शरीरको सँभाले रहते हैं। जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है, इस-

की सार्थकता भी इससे होती है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा या ब्रह्मसे पूर्ण आयुर्वैदिक पुरुषकी सिद्धि होती है। शरीरमें उनकी अनुभूति त्रिधातुकी प्रकर्षतासे होती है। जिस वायु-अग्नि और जलने सृष्टिरचनामें सहायता पहुँचायी, वही अपनी समता रख वायु-पित्त और श्लेष्मारूपमें शरीरका धारण, पोषण और वर्धन करते हैं; और विषमतासे विकारकी उत्पत्ति और विनाशका सामान इकट्ठा कर देते हैं। पश्चिमी विज्ञान शारीरिक यंत्रोंमें विकृति और बिलक्षणता आनेको रोगका कारण मानता है; किन्तु उस यंत्रमें विलक्षणता आनेका रहस्योद्धाटन त्रिदोषकी विकृतिसे ही होता है। दोष विषमतामें समता लाना ही चिकित्सा है। अतएव इन तीनोंका स्वरूप ज्ञान होना आवश्यक है।

वायु—बिना आधारके कोई पदार्थ रह नहीं सकता। इसीलिये वायुका आधाररूप आकाश पहले निर्मित हुआ। इसका कार्य राजसिक है। यह रूक्ष है, लघु, शीत और खर है। सूक्ष्म और चल अर्थात् गतिमान है। श्वासप्रश्वास,स्वेच्छागति, चलना, बोलना, रक्तप्रसरण, मलविसर्जन, मनमें उत्साह, ध्यान, निरोध आदि इसीके स्वरूप हैं। यद्यपि वायु स्वभावत: शीत है; किन्तु योगवाही होनेके कारण शीतसंयोगसे शीत और उष्ण संयोगसे उष्ण होता है। सिम्पथेटिक नाड़ियोंके जो कार्य आधुनिक विज्ञान सम्मत हैं वे भी वायुके द्वारा सम्पादित होते हैं। सम्पूर्ण धातु और इन्द्रियोंका कार्य संचालन इसीके प्रसादसे होता है। जब शरीरमें वायुकी आवश्यकतासे अधिकता हो जाती है तब शरीरमें कृशता और कलौंस बढ़ जाती है, उष्ण पदार्थोंकी इच्छा अधिक होती है, शरीरमें कपकपी, पेटमें आध्मान और बद्धकोष्ठ हो जाता है। शारीरिक बलमें कमी आ जाती है, नींद कम आती है,

इन्द्रियोंके कार्यक्रम ठीक नहीं होते, बड़-बड़ और चित्त-भ्रम रहता है, चित्तमें उदासी रहती है। जब शरीरमें वायु क्षीण हो जाता है तब शरीरमें अवसाद, विना कारण थकी, कम बोलनेकी इच्छा, बेहोशी, मोह और कफ बढ़नेसे जो लक्षण होते हैं वे होने लगते हैं। पक्वाशय, कमर, कूले, कान, अस्थि और स्पर्शेन्द्रिय वात के स्थान हैं। इनमें भी पक्वाशय विशेप रूपसे वायुका स्थान है। स्थान और कार्य भदेसे वायुके पांच भेद होते हैं। गतिमान और रजोगुणी होनेसे वायु स्पर्श गुण सम्पन्न परमाणु समूहके कारण स्पर्श तन्मात्र-की अधिकता वाला स्पर्शसे ग्रहण योग्य होता है। चलन विकासा-त्मक रज-सत्व गुणवाला होनेसे रूप, प्रकाश और उष्णता उत्पन्न करनेवाले परमाणुओंका समूह रूपतन्मात्र समूह कहलाता है। यह अग्निविकार जनित है। संकोच-विकासात्मक तम-सत्वगुण होनेसे रस तन्मात्र समूह कहाता है। रसतन्मात्रके अधिक भाग सांसिद्धिक रस और द्रवस्पर्श गुणसे ग्राह्य जल विकार कहाता है। संकोचात्मक तमोगुण वाले गन्ध और कठिनता उत्पन्न करने वाले परमाणुओं का समूह गन्ध तन्मात्रके अधिक भागके अधिक भाग वाले सांसिद्धिक गन्ध और कठिन स्पर्शसे पहचाने जानेवाले पार्थिव विकार कहाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक महाभूत पञ्च तन्मात्रोंके न्यूनाधिक और तन्मात्रोंके सम्बन्धकी विलक्षणतासे अपनी अपनी जातिमें कुछ संख्याके सत्व बनाते हैं। वायुरूपी आधुनिक विज्ञान कथित सत्व भी इसी तरह बनते हैं।

विकृति और स्थान तथा कार्यभेदसे वायु पांच स्वभाव वाला पाँच प्रकारका है; प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान। इनमेंसे **प्राण-वायु** नासाग्र और शिरमें स्थित हो छाती और कण्ठ तक गमन करता है। बुद्धि, हृदयेन्द्रिय और चित्तको धारण कर ष्ठीवन (थूकना), छींक, डकार, सांस बाहर करने और अन्नको भीतर

ले जानेका कार्य करता है। **उदान वायु** छातीमें रहकर नाक-नाभि और गले तक सञ्चार करता है। वाक् प्रवृत्ति करता, पदार्थोंके ग्रहणादि उद्यममें प्रयत्नशील बनाता और बल-वर्ण-उत्साह-स्मृति आदि क्रियाओंको सम्पादन कराता है। प्राण और उदान वायु ऊर्ध्वगमनशील हैं। **व्यानवायु** हृदयमें स्थित होकर सारे शरीरमें सञ्चार करता है। यह अन्य वायुओंकी अपेक्षा अधिक शीघ्र गमनशील है। घूमना-फिरना, अङ्गोंको नीचे झुकाना, अंगोंको ऊपर उठाना, नेत्रोंका उन्मेष और निमेष (खोलना और बन्द करना), जमुहाई, अन्नास्वादन-विशोधन आदि शरीरधारियोंकी प्राय: सब क्रियाएँ इसके द्वारा सम्पादित होती हैं। **समान वायु** पाचकाग्निके पास रह सारे कोठे और आंतोंमें सञ्चार करता है। अन्नको ग्रहण कर आमाशयमें ले जाकर पचाता और रस-मल-मूत्र आदिको अलग अलग कर मल और मूत्रको नीचे ले जाता है। खाये हुए अन्न-पानका इस प्रकार यह समीकरण करता है। आहारका परिपाक कर रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-मल-मूत्रादिकी समानवायुसे ही परिणति होती है। **अपानवायु** अधोगामी है। श्रोणिफलक, वस्तिदेश, मेढ़ और ऊरुस्थान तक संचार करता है। शुक्र, आर्तव, मल, मूत्र और गर्भ निष्क्रमणकी क्रिया संपादित करता है।

वायुमें रूप नहीं स्पर्श है, यह गतिशील है; अतएव जहां गति वहीं क्रिया भी होती है। गतिके विना न तो क्रिया होती और न क्रियाके विना गति होती। वायुकी इस गतिके द्वारा आकाशसे संघर्षण होकर कम्पन होता है। वायुके चारों ओर आकाश है। किसी पदार्थ पर ढेला फेंका जाय तो वह उसपर लग कर शब्द करता और फिर वापस आता है। कम्पनसे ही गति होती है। गतिके कारण स्पर्श और स्पर्शसे आघात होकर शब्द और तापकी

उत्पत्ति होती है। जहाँ आकाश (स्पेस) है, वहीं वायु द्वारा शब्द-स्पर्श-ताप-कम्पन होता है। विश्वव्यापी वायुका कम्पन सृष्टि-स्थिति और प्रलयका कारण है। वायु भिन्न-भिन्न रूपमें, भिन्नभिन्न मूर्तियोंमें परिग्रह करता है, सर्वभूतोंका यही अन्तरात्मा रूप है। कुछ पश्चिमी वैज्ञानिक भी इस विचारके निकट आते जाते हैं कि विभिन्न मूल पदार्थ एक ही मूल पदार्थके अवस्थान्तर हैं। हमारी समझमें वह मूल पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म एक स्पर्श तन्मात्र अणुत्व और एकत्व वायु है जो नित्य है। वायुमें जो अग्नितत्व है वह आक्सिजन है। इसीके संयोगसे पदार्थ जलते हैं। आक्सिजनकी दहन-क्रियाको परिमित करनेके लिये वायुमें जहाँ एक भाग आक्सिजन होता है वहाँ चार भाग नाइट्रोजन होता है, जिससे पदार्थोंकी ज्वलन क्रियामें नियन्त्रण रखा जा सकता है। हैड्रोजन और नैट्रोजन जलने वाले हैं जलाने वाले नहीं। नैट्रोजन न होनेसे आक्सिजन जीव-जन्तुओंके लिये हितकर न हो सकता और आक्सिजन मिला न होनेसे नाइट्रोजन वृक्षोंके ग्रहण योग्य न रहता। वायुमें भार या चाप है वह पृथ्वीतत्वका अंश है; किन्तु सदा वायुमण्डलमें रहनेके कारण हमें उसका बोध नहीं होता। शीतसे उसका चाप बढ़ता और उष्णतासे घटता है। उत्तरमेरुसे वायुका प्रवाह दक्षिणमेरुकी ओर होता है, वहाँसे वह टकराकर फिर उत्तरमेरुकी ओर जाता है। इस प्रकार उसमें गतिशीलता बनी रहती है। शरीरके भीतर वायुकी क्रिया बराबर सारे शरीरमें कार्य करती रहती है. उसकी दहन-क्रियासे अनावश्यक अंश जला करते हैं, उससे उष्णता बनी रहती है। शरीरोपयोगी आवश्यक अंश शुद्ध होते रहते हैं। श्वास द्वारा बाह्य वायु जाकर अन्तस्थ वायुका सहायक होता है और प्रश्वास द्वारा वायुके निरुपयोगी अंश बाहर निकला करते

हैं। शरीरके ऊपरी भाग देहाकाशमें उदानवायु, मध्य भाग हृदयमें प्राणवायु, नाभिमण्डलमें समानवायु, लिंगमूलमें व्यान-वायु और मल द्वारमें अपानवायु है। उसी तरह वाह्यजगतमें भूमिमें अपान, जलमें व्यान, सूर्यमण्डलमें समान, उसके ऊपर प्राण, उसके ऊपर महाकाशमें और सर्वव्यापी व्यान है। भूमिमें भौमाग्नि, जलमें आप्याग्नि, अग्निमें तेजसाग्नि, वायुमें वाय्वाग्नि और आकाशमें नाभसाग्नि है। शरीरके मलद्वारमें भौमाग्नि, लिंगमूल स्वाधिष्ठानमें आप्याग्नि, नाभिमण्डलमें तैजसाग्नि, हृद्पिण्डमें वायव्याग्नि और कण्ठके विशुद्ध चक्रमें नाभसाग्नि है। पित्त ही शरीरका पाचकाग्नि है। दृश्य पित्त द्रव पदार्थ है, पीला-नीला है और रक्तका मल है; किन्तु इसीकी ऊष्मा अग्नि है।

पित्त—कहा गया है कि पित्त शरीरस्थ पाचकाग्नि है। पित्त कुछ स्नेहयुक्त, तीक्ष्ण, शीघ्र क्रिया, करनेवाला, उष्ण, लघु, विस्र अर्थात् मछलीकी सी या कच्चे आमकी सी गन्धवाला, सारक और द्रव होता है। अपने सर गुणके कारण ऊँचे और नीचे जा सकता है। यों तो "पित्तः पंगु कफः पंगु, पंगवो मल धातवः। वायुना यत्र लीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्।" क्या पित्त, क्या कफ, क्या रसादि धातु और मलादि सभी पंगु हैं। जैसे वायु मेघोंको जिधर चाहता है, ले जाता है, उसी तरह इन दोषों, धातुओं और मलोंको वायु शरीरमें जिधर चाहता है ले जाता है अर्थात् वायुकी गमनशीलता पर ही इन सबकी गति निर्भर करती है। तथापि पित्त अपनी सर शक्तिसे सरकता हुआ ऊपर नीचे पहुँ-चता है। यह पित्त अविकृत अवस्थामें रहनेसे अपनी पचन शक्ति, ऊष्मा, दृष्टिशक्ति, क्षुधा, तृषा, रुचि, प्रभा, मेधा-बुद्धि, धी-प्रज्ञा, शौर्य-पौरुष और शारीरिक मृदुताके गुणसे तथा रक्त-संवहन क्रियासे शरीर पर अनुग्रह किया करता है। जब यह

शरीरमें बढ़ जाता है तब शरीर में पीलापन बढ़ा देता है। उससे मल-मूत्र-नेत्र और त्वचामें भी पीलापन बढ़ जाता है। क्षुधा-तृषा और दाहकी अधिकता हो जाती है। ऐसी अवस्थामें नींद कम पड़ जाती है। यही पित्त जब क्षीण हो जाता है तब अग्नि मन्द पड़ जाता है, भूख कम लगती है और पाचनशक्ति घट जाती है, शरीरमें शीत बढ़ जाता है एवं शारीरिक प्रभा या कान्ति मारी जाती है। पित्तका मुख्य स्थान नाभि और आमाशय-पक्काशय है। यह स्वेद, लसीका, रुधिर, रस, नेत्र, और स्पर्शेन्द्रिय त्वचामें भी रहकर उनकी क्रियाएँ सम्पादन कराता है। त्वचा यद्यपि वायुका स्थान है; किन्तु अग्निकी वायुसे मित्रता है, वायुसे ही अग्निकी उत्पत्ति है, अग्नि ही पित्त है, अतएव त्वचा भी इसका स्थान कहा गया है। पित्त जीवित शरीरका प्रमुख अंश है। तेजसे उत्पत्ति होनेके कारण शरीरकी तेजी इस पर निर्भर रहती है। इसका कार्य सात्विक है। यह शारीरिक और मानसिक उन कार्योंका सम्पादन करता है, जिनका काम शारीरिक क्रियाओंको जारी रखने और बदलने (सस्टिनेटिव) अथवा परिवर्तनशील है।

पित्त भी पांच प्रकारका है। १ पाचक २ रञ्जक ३ साधक ४ आलोचक और ५ भ्राजक। **पाचक पित्त** नाभिस्थानमें तथा आमाशय और पक्काशयमें रहता है। पञ्चभूतात्मक होते हुए भी इसमें तैजस गुणकी अधिकता होती है, इसलिये पचनक्रिया इसीके अधीन है। इसमें द्रवत्वकी कमी है। पचनकार्य विशेषतः करनेके कारण इसे पाचक पित्त कहते हैं। यह आहारका पचन कर उसके सार भाग रस और त्याज्य भाग मल-मूत्रका पृथक्करण-करता है। यही नहीं अपने स्थानमें रहते हुए भी शेष चारों पित्तोंको भी उनके कार्यमें बल देकर सहायता पहुँचाता है।

रञ्जक पित्त आमाशयमें रहकर मण्ड रस या आमरसका निर्माण करता है, यकृत-प्लीहामें रहकर रसमें रङ्ग लाता अर्थात् रक्तकी पहली अधूरी स्थितिको पूर्णता देता है। **साधक पित्त** हृदयमें रहकर बुद्धि, मेधा (धारणाशक्ति), अहंकार आदिके द्वारा स्मरणादि क्रियाओंका साधक है। इसलिये इसे साधक कहते हैं। **आलोचक पित्त** नेत्रोंमें रह रूपकी आलोचना कर रूपग्रहण शक्ति उत्पन्न करता है, देखनेकी क्रिया सम्पादन कराता है। **भ्राजक पित्त** त्वचामें रहकर भ्राजक-दीपन कार्य करता और तेजका कारणीभूत होता है। पित्तके सिवाय शरीरमें और कोई अग्नि नहीं है। पित्त आग्नेय पदार्थ होनेके कारण दहन और पचन कार्य करता है। इसीलिये मन्दाग्नि होने पर पित्त-वर्धक पदार्थ देकर अग्निकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह तीव्र-अग्नि होने पर शीतल क्रिया द्वारा पित्तको साम्यावस्थामें लाया जाता है। पक्काशय और आमाशयमें रह कर पित्त चतुर्विध आहार का परिपाक करता है, अन्य स्थानके पित्तोंको भी बल पहुँचाता है। यही पित्त यकृत-प्लीहामें रह रसको रंगकर रक्तका रूप देता है। हृदयमें साधक नामसे यह अग्नि मनकी सब अभि-लाषाओंको साधित करता है। नेत्रोंमें आलोक नामसे रूप और प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। त्वचामें भ्राजक नामसे तैलमर्दन, आलेपन आदि क्रिया द्वारा प्राप्त स्नेह और उसकी लिप्तताका परिपाक कर शारीरिक कान्तिका प्रकाश करता है। यह पित्त उष्ण होने पर कटुरस वाला और विदग्ध होने पर अम्लरस विशिष्ट होता है। पित्तके प्रकुपित होने पर शरीरमें उष्णता, सर्वाङ्ग दाह और धुएँ की सी डकार आया करती है। पित्त शब्द 'तप' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ सन्ताप है।

श्लेष्मा या कफ—श्लेष्मा 'श्लिष आलिंगने' धातुसे बना है।

जिसका अर्थ आप्यापित करना है। यह स्वभावसे स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द (विलम्बसे क्रिया करनेवाला), श्लक्ष्ण-लिबलिबा, मृत्स्न-चिपकने वाला, पिच्छिल गुण युक्त चमकदार और स्थिर व्याप्तिशील है। यह अपनी स्थिरता और स्निग्धत्व गुणके कारण सन्धि-बन्धनोंको और क्षमा द्वारा मानसिक क्रियाओंको आप्यापित करता है। यह जीवित शरीरका वह भाग है जो जल तत्व और पृथ्वी तत्वसे निर्मित होता है। गुणोंमें इसका कार्य तामसिक है। इसके द्वारा उन शारीरिक और मानसिक कर्मोंका सम्पादन होता है जो प्रधानतः परिवर्तनशील होनेके बदले सञ्चयशील हैं। स्नेहन द्वारा चिकनाहट लाना, कोमल रखना, सहिष्णुता, शक्ति, शरीर पुष्टि, और साहस उत्पन्न करना इसका कार्य है। इसके द्वारा पोषक रसोंका निर्माण सुलभतासे होता है। यह जब शरीरमें बढ़ जाता है, तब अग्निमांद्य होता, मुंहसे लार छूटती, शरीरमें भारीपन और आलस्य बढ़ जाता है। जब शरीरमें श्लेष्मा क्षीण हो जाता है तब भ्रम होता, चक्कर आते, श्लेष्माके स्थान छाती-शिर और सन्धि स्थानोंमें शून्यता आती अर्थात् वे सूखे मालूम पड़ते हैं, हृदयमें धड़कन बढ़ जाती है।

श्लेष्मा भी स्थान और कार्यभेदसे पांच प्रकारका है। १ अवलम्बक २ क्लेदक ३ बोधक ४ तर्पक और ५ श्लेषक। **अवलम्बक कफ** छातीमें रहता है और अपने वीर्यसे त्रिक-कूले-की हड्डियोंकी रक्षा करता है। अन्नवीर्य और अपनी शक्तिसे हृदयकी रक्षा करता है। यही नहीं अपने जल रूप द्रवत्वसे अन्य कफ स्थानोंकी भी रक्षा करता है। **क्लेदक कफ** आमाशयमें रहकर, अन्न समुदायको द्रवरूप देता है। **बोधक कफ** रसना स्थानमें रहकर रस ज्ञान उत्पन्न करता है। **तर्पक कफ** मस्तकमें

रहकर शिरस्थान और नेत्रोंको तृप्त करता रहता है। नेत्रोंके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंको भी तृप्त करता है। **श्लेषक कफ** सन्धियोंमें स्थित हो उनकी रक्षा करता है। इस प्रकार श्लेष्माका स्थान आमाशय है। आमाशय पित्ताशयके ऊपर स्थित है। श्लेष्मा और पित्त परस्पर विपरीत गुण विशिष्ट हैं। पित्तकी ऊर्ध्वगति है। चन्द्रमा जिस प्रकार सूर्यकी क्रियाका आधार है, उसी प्रकार श्लेष्मा भी चार प्रकारके आहारका आधार है। आमाशय स्थानमें श्लेष्मा जलीय गुण द्वारा सब प्रकारके भुक्त द्रव्यको गीलाकर अलग कर देता है, जिससे सहज ही पचन योग्य उसका मण्ड तैयार हो जाता है। अन्य स्थानके श्लेष्माको भी अपनी शक्तिसे सहायता पहुँचाता है। हृदयस्थ श्लेष्मा कटि प्रान्तकी सन्धियोंको धारण करता और अन्न रससे मिलकर हृदयस्थानका अवलम्बन करता है। कण्ठस्थित श्लेष्माका जिह्वामूल आश्रय है। रसनेन्द्रियके सौम्य गुण प्रयुक्त रसका आस्वादन कार्य उसका अधिष्ठान होता है। मस्तकमें जो तैलादि स्नेह द्रव्योंका मर्दन किया जाता है, उससे तृप्त हो शिरस्थ श्लेष्मा श्रवण-दर्शन आदि कार्यमें सहायक होता है। सन्धि स्थानका श्लेष्मा सन्धियोंको चिकना रख उनके कार्यमें अनुकूलता पहुँचाता है। श्लेष्मा गुरु और श्वेतवर्ण होता है। मधुर होने पर अविदाही और लवणरस विशिष्ट होने पर विदाही हो जाता है। इसके प्रकोपसे अरुचि, अग्निमांद्य, अवसाद और वमन होता है।

इस प्रकार प्राणवायुका काम बाहरसे वायु ग्रहण करना और नाभिसे ऊपरी भागके उष्ण वायुको निःश्वास द्वारा बाहर करना । अपानवायुका काम भीतरी भागके अधोवायुका परित्याग करना है। समान वायुका काम समीकरण करना

अर्थात् परिपाक क्रिया सम्पादन कराना है। उदानका काम ऊर्ध्वगमन और व्यानका काम जलवहन कराना है। समान वायु आहारीय और पानीय द्रव्योंका परिपाक कर रससे रक्त और रसका परिपाक कराकर मांस, मांसका परिपाक साधन कर मेद, मेदको पचाकर अस्थि, अस्थिको पचाकर मज्जा और मज्जाका परिपाक कर उसे शुक्रमें परिणत कराता है। इस प्रकार समानवायुके कार्योंका सामञ्जस्य आक्सिजनके साथ हो जाता है। पश्चिमी विज्ञानको इस सम्बन्धमें निश्चय नहीं विदित है कि शरीरके भीतर आक्सिजनकी उत्पत्ति होती है या नहीं। किन्तु जो ब्रह्माडमें है, उसे पिण्डमें भी होना चाहिये इस सिद्धान्तसे अनुमान होता है कि हमारे शरीरके भीतर शरीरारम्भक स्थायी पदार्थ जन्मसे ही शरीर कार्योपयोगी वर्तमान रहना चाहिये। इसके बिना कोई बाहिरी वस्तु भीतर ग्रहण नहीं की जा सकती। वैज्ञानिकोंके मतसे आक्सिजनके बिना कोई पदार्थ जल नहीं सकते। शरीरके भीतर भी दहन क्रिया होती ही रहती है। अतएव समझा जा सकता है कि शरीरमें प्राण और अपानकी ऊर्ध्व और अधोगति द्वारा नाभिमण्डलमें जो ताप उत्पन्न होता है और वाह्य जगतमें ऊर्ध्ववायु और अधोगतवायुमें जो निरन्तर संघर्ष ऊर्ध्व-अधोगति द्वारा चलता रहता है, उस तापमें दहन शक्ति विद्यमान रहती है। उसी शक्तिके प्रभावसे जिस प्रकार वाह्यपदार्थोंका परिपाक और दहन होता है, उसी तरह शरीरके भीतर भी आहार और रक्तादि परिपाक क्रिया सम्पन्न होती है। दो वस्तुओंके परस्पर संघर्षसे जो ताप उत्पन्न होता है और इस प्रकार दोनों घिसी जानेवाली वस्तुओंका जो क्षय होता है, उसे जाना जा सकता है। अतएव बहुत सम्भव है कि समान वायु ही आक्सिजन हो।

स्थूल दृष्टिसे हम वाह्यपदार्थ भीतर ग्रहण करते हैं, इसके बिना श्वासावरोध होकर मृत्यु हो जाय, किन्तु ग्रहण करने वाला कौन है? प्रत्येक टिशू अर्थात् प्रत्येक उपादानधातुके प्रत्येक परमाणुमें श्वासक्रिया और दहन क्रिया सम्पन्न होती रहती है। यदि केवल फुफ्फुसकी श्वासक्रियाके भरोसे रहें तो शरीरके भीतर प्रतिक्षण जितना विषाक्त वायु कार्बोनिक एसिड गैस उत्पन्न होती है उसे दग्ध करना सम्भव न होता। अतएव यह ठीक है कि केवल श्वासयन्त्रकी मांसपेशियोंकी क्रियाके द्वारा फुफ्फुसोंके संकोचन और प्रसरणसे जो वाह्यवायुका आकर्षण और भीतरी वायुका परित्याग होता है वही बस नहीं है। हमारे शरीरके छोटे-छोटे अवयवोंमें भी दहनक्रिया चलती रहती है। इसीलिये जहाँ वायु रहता है, वहाँ पित्त भी रहता है और जहाँ वायु और पित्त है वहाँ श्लेष्मा या कफका रहना भी अनिवार्य है। नाभिमण्डलमें समान वायु है तो पाचक पित्त और क्लेदक श्लेष्मा भी है। हृदयमें प्राणवायु है तो साधक पित्त और अवलम्बक श्लेष्मा भी विद्यमान है। सारे शरीरमें यदि व्यान वायु दौरा करता है तो भ्राजक पित्त और श्लेपक श्लेष्मा भी अवस्थान करता है। इससे स्पष्ट है कि शरीरमें प्रत्येक उपादान धातुके प्रत्येक कणमें मृदु दहन संस्कार होता रहता है। इस दहन क्रियाका प्रधान स्थान नाभिमण्डल है। नाभिमण्डलमें जब प्राण और अपानका संघर्षण होता है और उसके द्वारा जब खाये हुए आहारका परिपाक होता है तब वही प्रधान दहन स्थान है ही। यहीं धमनीका मूल संलग्न है; अतएव धमनक्रिया यहीं तो सम्पन्न होगी; यहींका पाचक पित्त शरीरके अन्य स्थानीय पित्तोंको बल प्रदान करता रहता है। यहींका पाचकाग्नि अन्य स्थानके अग्नियोंके बलकी वृद्धि करता है। यदि नाभिमूलका प्राणवायु

आकर्षण न करे तो प्राणवायु बाहिरी पदार्थोंको ग्रहण नहीं कर सकता। वायुके ग्रहण और परित्यागके समय नाभिमें पहले ही स्पन्दन होता है। जब श्वासमें नाभिमूल वेगसे स्पन्दित होता है तब ऊर्ध्व श्वास चलता और मनुष्यकी मृत्यु होती है। इसीसे हम समझते हैं कि नाभिमण्डलस्थ समान वायु ही **आक्सिजन** है। उदानवायुको जलीय वाष्पोत्पादक **हैड्रोजन** कहा जा सकता है। उदान वायुका स्थान कण्ठ है। उदानवायु जिस जलीय वाष्पको ऊर्ध्वगामी करता है वही रसनामें आकर रसन नामक श्लेष्मामें परिणत होता है। **नैट्रोजनको** सोमगुण विशिष्ट पदार्थ अथवा क्लेदक श्लेष्मा कहा जा सकता है। जिस प्रकार सूर्यका प्रखर उत्ताप सोमगुण विशिष्ट चन्द्र द्वारा नियमित होता है उसी प्रकार आक्सिजनकी दाहिकाशक्तिको नियमित करनेके लिये वायुमें ४ भाग नैट्रोजन रहता है। अन्यथा आक्सिजनकी दाहिका शक्ति नियमित न होती; और पृथ्वी जल जाती। बहिर्जगतमें सूर्यकी अपेक्षा चन्द्र बृहत् है। चन्द्रके सोमगुण द्वारा सूर्यका उत्ताप मन्द होता है। प्राण ग्रहण करता है, अपान परित्याग करता है। प्राणवायु शीतल और अपान वायु उष्ण है। यह उष्ण वायु दूषित है इसे **कार्बोनिक एसिड** कह सकते हैं।

यह शास्त्र बहुत विस्तृत है। संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन किया गया है। जिस प्रकार वायु, सूर्य और चन्द्र यथाक्रम विक्षेप, आदान और विसर्ग द्वारा जगतको धारण करते हैं, उसी प्रकार वायु, पित्त और कफ विक्षेप अर्थात् प्रसारण, आदान अर्थात् ग्रहण और विसर्ग अर्थात् त्याग द्वारा शरीरको धारण करते हैं। चन्द्रका स्वभाव विसर्ग या त्याग है, वह अपने सोमगुण द्वारा सन्तापको आप्यायित करता है। सूर्यका स्वभाव आदान है, उसके द्वारा वह पृथ्वीका रस आकर्षण या ग्रहण करता है। वायु-

का स्वभाव विक्षेप अथवा प्रसारण है। वायु चन्द्र और सूर्यकी किरणोंको फैलाता है प्रसारित करता है। वायु पञ्चभूतका द्वितीय पदार्थ है; किन्तु सर्वगुण सम्पन्न है। सबका नेता है। वायुके बाद ही अग्नि या सूर्य है जिसका प्रधान गुण ग्रहण है; किन्तु वायुका विक्षेप और चन्द्रका विसर्ग गुण भी उसमें वर्तमान है। इसीलिए सूर्य अपने प्रधान गुण द्वारा रसका आकर्षण करने पर भी अपने अप्रधान गुण द्वारा रस वर्षण भी करता है। दक्षिणायनमें रस वर्षण और उत्तरायणमें रसाकर्षण करता है। इसी तरह चन्द्र अपने प्रधान गुण द्वारा रसवर्षण करने पर भी उसमें प्रसारण और आदानगुण भी वर्तमान है। क्योंकि रस ग्रहण किये बिना उसका वर्षण और विस्तार नहीं हो सकता। बाह्य जगतमें वायु, अग्नि और जलकी क्रिया जैसी होती है, देह जगतमें वात-पित्त-कफकी क्रिया भी उसी प्रकार चलती रहती है। जिस प्रकार अग्नि-जल-वायुके स्थानीय शरीरमें पित्त-कफ-वायु हैं, उसी तरह पञ्चतन्मात्रके तेज-जल और वायु हैं। जगतमें जैसे मृत्तिकाके ऊपर जल, जलके ऊपर अग्नि, अग्निके ऊपर वायु और वायुके ऊपर आकाश है; शरीरमें उसी प्रकार मूलाधारमें पृथ्वी, स्वाधिष्ठानमें जल, मणिपूर (नाभिसे कुछ नीचे) में तेज, अनाहत (नाभि) में समान वायु और विशुद्ध चक्रमें आकाशका स्थान है। जिस प्रकार पृथ्वीका जल भाफ बनकर ऊपर जाता और वृष्टि रूपसे फिर गिरता है, उसी प्रकार जल शरीरस्थ जलाधारसे भाफ रूपमें उठकर श्लेष्मारूपमें मस्तकमें संचित होता और फिर नाक और मुखके द्वारा बाहर निकलता है। जैसे वृष्टिका जल, नदी तालाबका जल, सबजल ही हैं; स्थान भेदसे उनके अलग अलग नाम होते हैं, उसी तरह जल और श्लेष्मा एक ही वस्तु होने पर भी रूपान्तर भेदसे स्थानभेद,

स्थानभेदसे कार्यभेद और कार्यभेदसे उसका नाम भेद हो जाता है। इसी कारणसे वायु-पित्त और कफके पांच प्रकार और उनके नाम, स्थान और कार्य भिन्न हैं। वात-पित्त-कफका संक्षिप्त दिग्दर्शन करानेका यद्यपि हमने प्रयत्न किया है; किन्तु इनके स्थान, गति और क्रियाका सम्पूर्ण निर्देश असम्भव है। इनकी क्रिया बराबर जन्मसे मरण तक होती रहती है। जिस प्रकार सूर्यके ऊपर चन्द्र रहकर अपने सोमगुणसे सूर्यकी प्रखरताको मन्द अर्थात् संयत करता रहता है, उसी प्रकार शरीरमें पाकस्थलीके ऊपर आमाशयमें सोमगुण विशिष्ट श्लेष्मा रहता है और पाकस्थलीके पाचकाग्निके तेजको मन्द करता रहता है। जिस प्रकार सूर्यके ऊपर और नीचे जल न रहे तो सूर्यके प्रखर उत्तापसे पृथ्वी दग्ध हो जाय, उसी तरह आमाशयमें श्लेष्मा न रहे तो पाचकाग्निके उत्तापसे शरीर दग्ध हो जाय। जिस प्रकार बटलोई-का अन्न जलके साथ सुरक्षित रह नीचेकी आँचसे पकता है, उसी तरह आमाशयमें जलरूपी श्लेष्मा सदा सञ्चित रहता और जल, लार तथा आमाशयस्थ रससे क्लिन्न अर्थात् गीला होकर पाचकाग्निकी आँचसे पकता है। खाया हुआ आहार पहले आमाशयमें जाता और वहाँसे मांड़सा बन पक्वाशयमें पहुँच पचता और रस खिंचकर शेष मलाशयसे कठिनांश मलरूप-में और द्रवांश मूत्ररूपसे बाहर हो जाता है। सार रस सारे शरीरमें गमन कर रक्त-मांसादि बनाता है। बहिर्जगतमें जिस प्रकार चन्द्र पृथ्वी का जलीयांश शोषण द्वारा आत्म-पोषण कर पुष्ट होता रहता है, उसी तरह शरीरस्थ श्लेष्मा नीचे स्वाधिष्ठान-से जल खींचकर पुष्ट होता रहता है।

धातु और मल

रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र ये सात धातु हैं

मल-मूत्र और स्वेद ये तीनों मल हैं। ये दशों दूष्य भी हैं। अर्थात वात-पित्त-कफ दोष स्वयं परस्पर दूषित होते हैं और इन दशोंको भी अपने प्रभावसे दूषित किया करते हैं। दोषोंके द्वारा ये दूषित होते हैं, इसीलिये इन्हें दूष्य कहते हैं। ये दूष्य स्वयं दूषित नहीं हो सकते। इसलिये इनका शुद्ध या विकृत होना त्रिदोष पर निर्भर करता है। अतएव इनका भी संक्षिप्त परिचय करा देना आवश्यक है। धातुका अर्थ है धारण करना। ये धातु शरीरको धारण कर सुरक्षित रखते हैं। जिस प्रकार सोनार या लोहार अपनी भट्ठीकी आगको धौंकनीसे धौंककर प्रज्वलित रखता है, उसी प्रकार प्राण और अपान वायुके घात-प्रतिघात द्वारा पक्वाशयस्थ तिल प्रमाण अग्नि सदा प्रज्वलित रहता है। वायुके साथ अग्नि सूक्ष्म भावसे सदा वर्तमान रहता है। घात-प्रतिघात और घर्षणसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। बाहरी वायुमें अग्नि रहने पर भी उससे आहार द्रव्य पकाये नहीं जा सकते, पृथक् अग्नि प्रदीप्त करनेकी आवश्यकता होती है। उसी तरह श्वास-प्रश्वास द्वारा शरीरमें तापकी उत्पत्ति होती रहने पर भी आहार पाचनके लिये पृथक् रूपसे अग्न्याधार और अग्निका प्रयोजन रहता है। इसीलिये पक्वाशयस्थ अग्निकी उपस्थिति आवश्यक होती है। उस अग्निको ज्वलनोन्मुख बनाये रखनेके लिये श्वास-प्रश्वास धौंकनीका काम देता है। जब इस धौंकनीका व्यापार बन्द होगा तब जीवन-व्यापारकी भी समाप्ति समझनी चाहिये। इस प्रकार पाचकाग्नि द्वारा आहारके पचने पर जो उसका सार भाग तैयार होता है, उसे **रस** कहते हैं। यह रस नाभिस्थ समान वायु द्वारा संचालित होकर रस वाहिनी शिराओंके द्वारा शरीर पोषक स्थायी रसके आवास स्थान हृदयमें जाता और स्थायी रससे मिलता है। इसके बाद व्यान वायुके द्वारा सारे शरीरमें घूमकर

रक्तादि समस्त धातुओंका पोषण और वर्धन करता है। जैसे खेतमें नालियोंके द्वारा जल पहुँचाकर खेत सींचा जाता है, उसी तरह हृदयस्थ रस व्यान वायुसे परिचालित होकर सारे शरीरको तृप्त करता है, प्रीणन करता है। इस रसका स्थूल भाग शरीरारम्भक रसका पोषण करता और व्यान वायुसे प्रेरित हो धमनीके द्वारा सञ्चार करता हुआ अपने पोषण, स्नेहन और जठराग्निकी ऊष्माका ताप निवारण करनेके गुणसे सारे शरीरका पोषण करता है। इसी रसका सूक्ष्म भाग प्राण वायुसे प्रेरित धमनी मार्गसे शरीरारम्भक रक्त संस्थान यकृत और प्लीहामें जाकर उससे मिलता है और रञ्जक पित्त और अपने तथा प्राक्तन रक्तकी ऊष्मासे पककर लाल रंगका **रक्त** बन जाता है और सारे शरीरमें भ्रमण करता है। रक्तका गुण है शरीरस्थ अवयवोंको ओजप्रदान कर जीवन प्रदान करते रहना, शरीरकी रंगतको खिलाना और मांसका पोषण करना। इस रक्तका सूक्ष्म भाग शरीरारम्भक **मांस** में जाता है और अपनी ऊष्मा तथा मांसाग्निसे पककर मांसका पोषण करता है। मांसका गुण वेष्टन करना, शरीरको लिपटाये रखना, बल कायम रखना और मेदकी पुष्टि करना है। मांसका सूक्ष्म भाग शरीरारम्भक मेदसे मिल अपनी और उसकी उष्णतासे पक कर **मेद** बनता और मेदको पुष्ट करता है। मेदका गुण नेत्रादि इन्द्रियोंको स्निग्ध रखना, पसीनेके द्वारा दूषित भाग निकालना, शरीरको दृढ़ रखना और मांसकी पुष्टि करना है। मेदका सूक्ष्मांश शरीरारम्भक अस्थिमें जाकर अपनी और अस्थिकी ऊष्मासे पककर **अस्थि** रूप धारण करता और अस्थियोंमें रह उन्हें पुष्ट करता है। अस्थियोंका कार्य शरीरको धारण करना और मज्जाको पोषण करना है। अस्थियोंका सूक्ष्म भाग आरम्भक मज्जासे मिल अपनी और मज्जाकी ऊष्मासे पककर **मज्जा**

बनता है और अपने गुणसे मज्जाका पोषण करते हुए अस्थियों-को पूरित करता और शुक्रको पुष्टि प्रदान करता है। इसी मज्जाका सूक्ष्मांश रस अपनी और वीर्यकी ऊष्मासे पककर वीर्य बनता और उसे पुष्ट करता है। शुक्रका कार्य शरीरमें हर्षोत्पादन करना, बल बनाये रखना और गर्भोत्पादन करना है। इस प्रकार रससे वीर्य तककी धातु बनने पर सर्व देहस्थ व्यान वायु और सकल स्थानस्थ भ्राजक पित्त द्वारा पाकक्रिया सम्पन्न होती है। हृदयस्थ प्राणवायु सबमें प्रधान है, इसे सदा शुद्ध स्थितिमें रखना चाहिये, अन्यथा हृदयका कार्य ठीक नहीं चल सकेगा। पक्वाशयका हृदय-से और हृदयसे यकृत-प्लीहाका नित्य सम्बन्ध है एककी पुष्टिसे दूसरेकी पुष्टि और एककी दुर्बलतासे दूसरेमें दुर्बलता आती है। यदि यकृत-प्लीहा निस्तेज हों तो हृदय भी निस्तेज रहेगा। यही नहीं पाचकाग्नि भी तेजहीन रहेगा। अग्निकी तेजी न रहने पर क्षुधाकी कमी होगी। शुद्ध कफ रसका तेज और मल रूपसे बाहर निकलने वाला कफ रसका मल है। इसी तरह रक्तका तेज पित्त है और वान्ति द्वारा बाहर निकलने वाला पित्त रक्तका मल है। यकृत से जो पाचक पित्त निकल कर अग्न्याशयमें जाता है वही पाचकाग्नि है। पित्त और रक्तका आधार यकृत है। इसलिये रक्त या पित्त विकृत होनेसे जो विकार होते हैं, उनके लक्षण समान होते हैं; और पाचक रस भी यथोचित रूपसे नहीं निकल पाता है।

शरीरमें यदि रसकी विशेष अधिकता हो जाय तो कफ वृद्धिके समान अग्निमांद्यादि उपद्रव होते हैं। रक्तकी वृद्धि होनेसे विसर्प, प्लीहा, विद्रधि, कुष्ठ, वात-रक्त, रक्तपित्त, गुल्म, उप-कुशदन्तरोग, कामला, शरीरमें व्यङ्ग-झाईं आदि पड़ने, अग्नि-नाश, मोह आदि विकार होते हैं और शरीरकी त्वचा, नेत्र और मूत्रका रंग लाल हो जाता है। मांसवृद्धि होनेसे शरीरमें गांठें

निकलना, फोड़े-फुंसी होना, गण्डमाला, पेट बढ़ जाना और गलेमें मांसकी वृद्धि आदि विकार होते हैं। मेद वृद्धिसे मांसवृद्धिके समान गांठें आदि उत्पन्न होती हैं, थोड़े परिश्रमसे भी अधिक थकी मालूम पड़ती है; और जोर जोरसे सांस चलने लगती है। मेदवृद्धिसे नितम्ब, स्तन और उदर बढ़कर लटक जाते हैं। अस्थिवृद्धिसे हड्डी पर हड्डी तथा दांत पर दांत जमते हैं। मज्जावृद्धिसे नेत्र और शरीरमें भारीपन मालूम होता है। अंगुलियोंके पोरोंके मूलभाग मोटे पड़ जाते हैं और वहां कृच्छ्रसाध्य अरूंषिका फुड़ियां हो जाती हैं। शुक्रकी वृद्धिसे सम्भोगकी इच्छा बढ़ जाती है और शुक्राश्मरी (पथरी) भी हो जाती है। रस की क्षीणतामें शरीरमें रूक्षता बढ़ जाती है, थकी मालूम पड़ती, शरीर सूखता है, ग्लानि मालूम होती और शब्द सुननेकी इच्छा नहीं होती, किसीकी बात पसन्द नहीं आती। रक्ताल्पतासे खट्टी और ठण्डी चीजोंकी इच्छा अधिक होती, शिराओंमें शिथिलता और शरीरमें रूक्षता बढ़ जाती है। मांसक्षय होनेपर नेत्रादि इन्द्रियोंमें ग्लानि होती, गाल पिचक जाते और नितम्ब सूख जाते हैं। मेदक्षय होनेपर कमरमें शून्यता तथा यकृत और प्लीहाकी वृद्धि तथा शरीरमें कृशता बढ़ जाती है। अस्थिक्षय होने पर अस्थियोंमें चुभन होती और दांत-केश-नख आदि गिरने लगते हैं। मज्जाक्षीण होनेपर हड्डियोंमें पोलापन बढ़ जाता है, चक्कर आते और आंखोंसे कम दिखता है, नेत्रोंके सामने सरसोंसे फूलते हैं। शुक्रक्षय होनेपर सम्भोगके समय शुक्र विलम्बसे निकलता है अथवा वीर्यके बदले रक्त निकलता है। अण्डकोषोंमें सुई सी चुभती और पुरुषेन्द्रियसे धुआंसा निकलता है।

मल—धातुओंके समान मलोंको भी दोष दूषित करते

हैं और धातुओंके समान ये भी दूष्य कहलाते हैं। मल तीन हैं, मल-मूत्र और स्वेद। पचे हुए आहारका जो सारहीन भाग होता है उसमें गाढ़ा भाग मलके रूपमें बाहर पाखाने द्वारा निकलता है, और द्रवभाग दोनों वृक्कोंसे छन कर मूत्राशय द्वारा मूत्र नामसे बाहर होता है। मेदका मलरूप रक्तका निरुपयोगी और क्षारयुक्त अंश रोमरन्ध्रोंके मार्गसे पसीनेके रूपमें बाहर होता है। ये तीन प्रधान मल हैं। मांसका मल कान आदि स्रोतसोंका मल, नख और रोम अस्थिके मलरूप और मज्जाका मल आंखों-का कीचड़ है। मलका कार्य अवष्टम्भ-देह धारणशक्ति है, मूत्रका अनावश्यक क्लेदको बहाना है और स्वेदका कर्म क्लेदकी विधृति अर्थात् धारण करना है। क्लेदके अभावमें शरीरकी मध्यम त्वचा-का निर्माण और पोषण नहीं हो सकता। बाल और रोमोंको धारण करना भी स्वेदका काम है। मलकी वृद्धि होनेसे कुक्षि भाग अकड़ा सा और फूला तना सा रहता है। पेटमें भारीपन और दर्द रहता है। मूत्रकी वृद्धि होने पर वस्ति-पेडूमें चुभन होती और पेशाब करने पर भी ऐसा मालूम पड़ता है कि अभी पेशाब नहीं किया, और भी पेशाब होगा। स्वेदवृद्धि होनेपर शरीरमें खुजली होती और पसीनेमें दुर्गन्ध बढ़ जाती है। आँखका मल बढ़ने पर कीचड़ अधिक आता, आँखें भारी रहती हैं। कानका मल बढ़ने पर कानसे खूंट अधिक निकलता और कान भरे जकड़ेसे मालूम पड़ते हैं। नाकका मल बढ़ने पर नाक अधिक आती और नाक भारी रहती है। पुरीष-मलकी क्षीणता होने पर पेटमें वायु घूमता रहता, आंतोंमें शब्द होता और आँतोंमें ऐंठनके साथ वायु ऊपर चढ़ता है। हृदय और पसुलियों में बहुत दर्द होता है। मूत्रकी अल्पतामें पेशाब देरसे और थोड़ा होता है, पेशाब का रङ्ग पीला, लाल या खून सा होता है। स्वेदकी क्षीणतामें

बाल और रोम झड़ते हैं, रोवें खड़े रहते हैं और चमड़ा फटता रहता है। आँख, कान, नाकके मलकी क्षीणता होने पर कान, आँख या नाकमें शून्यता मालूम पड़ती, हल्कापन मालूम पड़ता और वहाँ खुश्की रहती है।

दोष-धातु और मलोंका क्षय अथवा वृद्धि उनके विपरीत गुणोंके क्षय या वृद्धि के लक्षणोंसे मालूम पड़ती है। मलबद्धतासे उनकी वृद्धि और अति प्रवृत्तिसे क्षय समझना चाहिये। वृद्धिकी अपेक्षा क्षय अधिक दुःखदायी होता है। क्योंकि ये शरीरमें रहते हैं और इनकी वृद्धिका शरीरको अभ्यास है। वायु अस्थिमें, पित्त रक्त और स्वेदमें और कफ रस, मेद, मज्जा, वीर्य, विष्ठा आदि धातु और मलमें रहता है। इस प्रकार इनका परस्पर आश्रय और आश्रयीभाव संबंध है। जो औषध-अन्न और विहार एकका क्षय अथवा वृद्धि करता है, वह तदाश्रित दोषोंका भी क्षय अथवा वृद्धि करता है। किन्तु अस्थिमें रहनेवाले वायुके लिये यह नियम अनुकूल नहीं है। क्योंकि अस्थियोंकी वृद्धि बृंहण-पौष्टिक उपाय-से होती है; किन्तु बृंहणसे कफकी वृद्धि और वायुका क्षय होता है। इसके विपरीत लंघन या कर्षणसे वायु बढ़ता और अस्थिका क्षय होता है। वायुके रूक्षादि गुणोंके साथ यदि उष्णता मिल जावे तो वायुका संचय अपने स्थानमें होता है। रूक्षादि गुणोंके साथ शीत सम्पर्क हो तो वायुका प्रकोप होता है और स्निग्धादि वायुके विरुद्ध गुण उष्णताके साथ मिलें तो वायुका शमन होता है। पित्तके तीक्ष्णादि गुणोंके साथ शीत सम्पर्क हो तो पित्तका अपने स्थान पर संचय होता है, उष्णतासे प्रकोप और मन्दादि गुण शीतसे मिलें तो पित्तका शमन होता है। कफके स्निग्धादि गुण शीतसे संयुक्त हों तो कफका संचय होता है, उष्णतासे कोप और उष्णताके साथ रूक्षादि गुण मिलें तो कफका शमन

होता है। वातादि दोष यद्यपि शरीर व्यापी हैं तो भी जब वे अपने शुद्ध रूपमें रहते हैं तब वे अपने निश्चित स्थानमें रहते हैं किन्तु बिगड़ने पर स्थान छोड़कर अव्यस्थित हो जाते हैं। जब दोष अपने स्थानोंमें रहकर बढ़ते रहते हैं तब उसे **सञ्चय** कहते हैं, उस समय जिन कारणोंसे उनकी वृद्धि हुई है, उन कारणोंसे स्वभावतः द्वेष हो जाता है और विपरीत गुणोंकी इच्छा उत्पन्न होती है। जब बढ़े हुए दोष स्थान छोड़कर इधर उधर जाने लगते हैं, तब उसे **प्रकोप** कहते हैं। ऐसी दशामें वे अपने लक्षण दिखाने लगते हैं। ऐसी स्थितिमें अस्वस्थता मालूम पड़ती और रोगोंकी उत्पत्ति होती है। जब विकृत दोष अपने स्थानमें आ जावें और अपने ही स्थानमें समतासे रहने लगें तथा उनसे विकार उत्पन्न होनेका भय न रहे तब उसे **शम या शमन** कहते हैं। जिस प्रकार सत्व-रज-तम गुणके बिना कोई पदार्थ नहीं रह सकता, उसी प्रकार अपने धातु वैषम्यसे उत्पन्न होने वाले किसी आगन्तुक रोग को छोड़ कोई निज रोग तीन दोषोंके अतिरिक्त अन्य किसी कारणसे नहीं हो सकता। अर्थात् सभी रोगोंमें इन दोषोंमें से किसी न किसी की स्थिति बिगड़े बिना रोग नहीं हो सकता। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध इन्द्रियोंके धर्मोंका जब संयोग ऋतु-काल और अयोग कर्मसे नहीं मिलता, उनकी हीन मात्रा, अति-मात्रा या मिथ्यामात्रा होती है तब दोष विकृत होते हैं। दोष कुपित होकर शरीरकी शाखा, कोष्ठ, अस्थि, सन्धि आदिका आश्रय कर व्याधि उत्पन्न करते हैं। किन्तु समावस्थामें शरीरका पालन-पोषण और सञ्चालन करते हैं। संक्षेपमें यही दोषोंका वर्णन है। भारतीय विज्ञानमें विशेषकर चिकित्सा विज्ञानमें त्रिदोष विज्ञानकी व्याप्ति विशेष है। उसको समझे बिना आयु-र्वेद विज्ञानका रहस्य समझना कठिन है। इसलिये इसका

...य दिग्दर्शन यहां करा दिया गया है।

रसायनशास्त्र

चिकित्सा विभाग—भौतिक शास्त्रके अनुसार भारतीय रसायन शास्त्र भी अपना निजका है और बहुत प्राचीन है। बल्कि उसीके प्रकाशमें अन्यत्र रसायन शास्त्रकी सृष्टि और वृद्धि हुई है। किन्तु इस शास्त्रकी भारतमें दिनोंदिन स्वतन्त्र उन्नति न हो पायी, यह चिकित्साशास्त्रका एक अंग होकर रह गया। यथार्थमें इसे हमारे यहाँ रसायनशास्त्रकी अपेक्षा **रसशास्त्र** ही विशेष रूपसे कहते हैं। क्योंकि रसायनके नामसे आयुर्वेदिक चिकित्साका एक स्वतंत्र अङ्ग अलग है। भारतीय आयुर्वेदकी प्रसिद्धि सृष्टिकर्ता ब्रह्माके द्वारा मानी जाती है। ब्रह्माने प्रजापतिको, उन्होंने अश्वनीकुमारोंको और अश्विनीकुमारोंने इन्द्रको इसकी शिक्षा दी। ये देव कोटिके वैद्य माने जाते हैं। इसके पश्चात इसके कई विभाग प्रचलित हुए। १ दैवीचिकित्सा २ मानुसीचिकित्सा ३ आसुरी चिकित्सा और ४ रस चिकित्सा। अथर्ववेद सम्मत मन्त्रों- तंत्रों और तान्त्रिक प्रयोगोंके द्वारा जिसमें रोग दूर करनेका प्रयत्न किया जाता है उसे दैवीचिकित्सा कहते हैं। जिसमें जड़ी बूटी प्रधान कल्पोंसे चिकित्सा की जाती है वह कायचिकित्सा अथवा मानवी चिकित्सा हुई। जिसमें शस्त्रों द्वारा चीर फाड़कर रोग दूर करनेका उपाय किया जाता है वह आसुरी कहलायी और जिसमें पारदके योगसे नाना प्रकारके कल्प तैयार कर आशुकारी चिकित्सा विधान किया जाता है उसे रस चिकित्सा कहते हैं। पहलीका प्रचार अब यन्त्र-मन्त्र और गण्डा तावीजके रूपमें यत्रतत्र रह गया है; किन्तु दूसरी चिकित्सापद्धति बहुत विस्तृत रूपमें फैली और इस समय भी

प्रभावशालिनी है। इसे महर्षि भरद्वाजने इन्द्रसे त्रिस्कन्ध आयुर्वेद सीख कर ऋषि मुनियोंको सिखाया और फिर शिष्य परम्परासे यह बढ़ती गयी। तीसरी शस्त्रचिकित्सामें अस्त्र शस्त्रका प्रयोग कर चीरना फाड़ना पड़ता था। यह कोमल हृदय ऋषियोंके अनुकूल न हुई। भगवान धन्वन्तरिके द्वारा इसका प्रचार क्षत्रिय ऋषियों और वैद्योंमें हुआ। पहली श्रेणीके वैद्य तान्त्रिक या सिद्ध वैद्य, दूसरीके काय चिकित्सक (फिजिशियन) या मूलिका वैद्य और तीसरी के शल्य चिकित्सक (सरजन) कहलाये। धन्वन्तरिके समयसे आयुर्वेद आठ अङ्गोंमें विभक्त हुआ १ कायचिकित्सा, जिसमें समस्त शारीरिक रोगोंकी चिकित्सा होती है। २ कौमारभृत्य जिसमें गर्भाधानसे लेकर गर्भवतीके विकार और बच्चा होनेपर उसके पालन और रोग दूरीकरण तथा बालक वाली स्त्रीकी चिकित्सा शामिल है। इसमें धातृविद्या और बालचिकित्सा दो उपविभाग हैं। ३ ग्रह चिकित्सा जिसमें मानसिक रोगों, भूतग्रहादि दुष्ट लक्षण वाले रोगियोंकी चिकित्सा तथा कीटाणुजनित रोगोंकी चिकित्सा होती है। ४ ऊर्ध्वाङ्ग या शालाक्यतंत्र जिसमें गलेसे ऊपर मुख, आंख, नाक, कान आदि रोगोंकी चिकित्सा औषधि और शस्त्र-सलाई 'आदिका प्रयोग दोनों विधियोंसे किया जाता है। ५ शल्य चिकित्सा जिसमें चीरफाड़ द्वारा रोग दूर किये जाते हैं। ६ दंष्ट्रा चिकित्सा अर्थात् अगद तन्त्र जिसमें विषोपविषकी चिकित्सा और अदालतमें काम पड़ने योग्य विषयोंका ज्ञान आयुर्वेद-व्यवहार (मेडिकल जूरिसप्रूडेंस) नामसे किया जाता है। ७ जरा चिकित्सा या रसायनतन्त्र जिसमें शरीरको नीरोग रख बुढ़ापा न आने देनेके उपाय कहे जाते हैं और ८ वृषचिकित्सा या वाजी करण चिकित्सा जिसमें शारीरिक धातुओंकी वृद्धि कर शरीरको मोटा-

ताजा बनाये रखने और सन्तानोत्पादनी शक्ति बढ़ानेके उपाय कहे जाते हैं। इस प्रकार ये तीनों विभाग ब्राह्मी चिकित्साके अन्तर्गत आते हैं। चौथे रसतन्त्रके आचार्य शिवजी माने जाते हैं और इसे माहेश्वरी चिकित्सा पद्धति कहते हैं। इसमें पारदके प्रयोगसे अनेक प्रकारके रस-भस्म, अम्लादि तैयार कर चिकित्सा की जाती है। इसके प्रयोग तुरन्त फलप्रद होते हैं। इसलिये रसतन्त्रकार इसे सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।

रसतन्त्रका प्रचार—रसतन्त्रके आचार्य शिवजी माने जाते हैं और इसीलिये इसका प्रचार अधिकतर शैव और शाक्त त्यागी साधु महात्माओंमें ही अधिक रहा। इसका आरम्भ समुद्र-मन्थनके समयसे समझना चाहिये। अजर अमर होनेके लिये देवताओं और दैत्योंने अमृतकी खोज करनी चाही। उस समय देश विदेश और समुद्र तथा समुद्र पारकी जड़ी बूटियोंकी खोज कर उनके कल्प तैयार करनेकी विधि सोची गयी। भगवान धन्वन्तरिकी कृपासे अमृत तो देवताओंके हाथ लगा; परन्तु बहुत सी विष और उपविषक वस्तुओंके प्रयोगसे अनजान लोग मरने लगे। इसलिये शिवजीने प्रयोग और परीक्षाएं कर विषोपविषके प्रभाव तथा गुणदोष जाने। उन्हें शुद्ध कर निर्दोष औषधि तैयार करने और विष प्रभाव हटाकर उनका भी अमृतीकरण करनेमें उन्होंने सफलता पायी। बहुत दिनों तक यह काम ऐसा ही चलता रहा। अन्तमें शिवजीने पारदके प्रयोग आरम्भ किये। पारद शिवजीका वीर्य और गन्धक पार्वतीजीका रज माना जाता है। रज और वीर्यके मेलसे जिस प्रकार मानवी सृष्टिका जाल फैलता है, उसी तरह इस पारद और गन्धकके मेलसे अद्भुत क्रान्ति हुई। गन्धक और पारदके मिलानेसे सफेद पारद और पीले गन्धकसे मिल एक काले रंगकी तीसरी ही

वस्तु कज्जली हाथ लगी। इस चमत्कारने रसाचार्योंका ध्यान आकर्षित किया और तरह तरहके प्रयोग आरम्भ हुए। असली रसायन शास्त्रका आरम्भ यहींसे समझना चाहिये। रससिद्धोंने गन्धक पारदके प्रयोग करते करते उसकी अद्भुत शक्तिके चमत्कार देखे और उधर अधिक आकर्षित होते हुए उससे मुक्ति प्राप्ति तकके सिद्धान्त ग्रहण करने लगे। पारद चञ्चल है, उसे स्थिर किये बिना प्रयोग होना कठिन था, वह अग्निकी आंचसे उड़ जाता है, इसलिये अग्नि-स्थायी करनेकी आवश्यकता हुई। प्रयोग पर प्रयोग कर उसके आठसे लेकर अठारह तक संस्कार निकाले गये और उसे काबूमें लानेकी युक्ति हाथ लगी। वे इसकी करामात पर मुग्ध होते गये। भगवान शंकराचार्यके गुरु भगवान् गोविन्द पादाचार्य पारदकी हरि विष्णुसे तुलना कर अपने ग्रन्थके आरम्भमें प्रार्थना करते हैं :—

पीताम्बरोथ बलिजिन्नागचय वहल राग गरुडचरः ।
जयति स हरिरिव हरजो विदलित भवदैन्य दुःखभरः ॥

पारदके प्रयोग विषोपविषके साथ ही रसोपरस और धातुप-धातुओं पर भी किये जाते थे। उस समय देखा गया कि पारद-की शक्ति असीम है यह सभी धातुओंको अपनेमें लीन कर लेता है। अर्थात् काष्ठौषधि नाग-शीशामें, नाग बंग-राँगेमें, राँगा ताम्रमें, ताम्र रौप्यमें, रौप्य सुवर्णमें और सुवर्ण पारदमें लीन हो जाता है। जैसे शिवमूर्तिमें लीन हुए योगी अमृतत्व मोक्ष पाते हैं, उसी तरह अभ्रकग्रास किये हुए पारदमें सुवर्णादि धातु लीन हो जाती हैं और अमृत समान गुणकारी हो जाती हैं। जैसे परमात्मामें लीन हुआ प्राणी जरामरणसे मुक्त हो जाता है, उसी तरह पारदसेवी मनुष्य न बूढ़ा होता है और न बहुत दिनों तक मरता है।

मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धन मनुभूय मुक्तिदो भवति
अमरी करोति हि मृतः कोन्यः करुणाकरः सूतात् ॥

जब पारदके प्रयोग करते-करते धातुओंमें परिवर्तन होता हुआ दिखा तब उन्हें पारदसे चाँदी-सोना बनानेकी सूझी। इसे धातुवाद या कीमियाँ कहते हैं। आरम्भमें अरब, मिश्र और यूनानमें भी रसायनशास्त्रकी प्रवृत्ति कीमियाके द्वारा ही हुई। भारतीय रसायनशास्त्रियोंकी प्रतिज्ञा थी कि हम इसको सिद्ध कर सोना चाँदी बनाकर संसारको दरिद्रतासे हीन कर देंगे। "सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिदं जगत्" किसी-किसीको इसमें सिद्धि भी मिली। इसका प्रचार अधिकतर गुरु परम्परासे सिद्धोंने अपने शिष्योंमें रखा; क्योंकि वे इसे बहुत गुप्त रखना चाहते थे। इसलिये सदियों तक यह विद्या ग्रन्थोंमें न आयी। इसके पश्चात तन्त्रशास्त्रोंमें इसका वर्णन किया गया और फिर इसके स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये।

रससिद्धि—कुछ लोगोंका ख्याल है कि पारद विदेशी वस्तु है। आजकल देशमें पारा नहीं मिलता, स्पेन आदि विदेशोंसे आता है; इसलिये इस अनुमानकी सृष्टि हुई मालूम पड़ती है। परन्तु पारदोत्पत्तिके सम्बन्धमें पुराणोंमें जो कथाएँ हैं उनसे मालूम पड़ता है कि पहले हिमालयमें पारद निकलता था। तारकासुर-वधके लिये पुत्र-प्राप्तिकी आकांक्षासे जब महादेवजीने पार्वतीके संग सम्भोग किया तब उनके वीर्यसे पारदकी उत्पत्ति कही गयी है। वह स्थान हिमालयमें गंगाके किनारे और उसके इधर-उधर दो-चार सौ कोसमें होना चाहिये। रसरत्न समुच्चयमें भी ऐसी ही कथा है और वाल्मीकि रामायणके बालकांडमें भी यह कथा दी गयी है और उसमें भी कैलास पर्वतका उल्लेख आया है। यह भी कहा गया है कि हिमालयमें जहाँ पारदके कूप थे वहीं

उसके मलरूपी ताँबा, कृष्ण लौह, तीक्ष्ण लौह, सीसा, राँगा आदि भी निकले। वहाँकी भूमि जातरूप सोनेकी हो गयी। अर्थात् विद्ध पारदसे सुवर्ण, गन्धविद्ध पारदसे चाँदी, तीक्ष्णतासे विद्ध ताँबा और लौह तथा मलविद्ध राँगा और सीसा हुआ। आगम ग्रन्थोंमें भी पारदका वर्णन है। परमेश्वरागम और सूक्ष्मागममें लिखा है कि—

> यथा हि रजतं ताम्र रसयोगात्सुवर्णताम्
>
> तथा शिवज्ञान रसात् शूद्रादिः शिवतां व्रजेत्।

इसमें पारेके योगसे चाँदी और ताँबेसे सोना बननेकी बात लिखी है। वीरशैव धर्मशिरोमणि ग्रन्थमें इसे और भी साफ कर कहा गया है—

> रसविद्धस्य ताम्रस्य रस संस्पर्शात्,
>
> सुवर्णतां प्राप्तस्य न पुनस्ताम्रत्व दृशा।

बसवपुराणमेंभी लिखा है—

> यथा रसस्य संस्पर्शात् ताम्रं भवति कांचनम्।
>
> तथेश दीक्षया मर्त्यः शिवो भवति निश्चयाः॥

सन् ईस्वीके ३२५ वर्ष पहले चाणक्यने अर्थशास्त्र लिखा था, उसमें पारदका अनेक स्थानोंमें उल्लेख है; और शुल्बधातुशास्त्र तथा रसपाक जाननेवालोंको राजा संग्रह करे ऐसा विधान है। सत्वपानन आदिका भी उल्लेख है। नागार्जुनके ग्रन्थसे मालूम पड़ता है कि महर्षि वशिष्ठने माण्डव्य मुनिको रससिद्धि-का विषय बताया था—

> रसोपरस योगेन सिद्धं सूतं सुसाधितं
>
> विशुद्ध शुल्वायनं नानं यथार्थे कांचनं कृतम्
>
> तस्यसारं वसिष्ठेन रसकर्मावधारितम्।
>
> शास्त्रं वासिष्ठ माण्डव्यं गुरुपार्श्वे यथा श्रुतम्।

पातञ्जलि योगसूत्रके कैवल्यपादसूत्रकी वाचस्पति टीकासे भी इसका समर्थन होता है "इहैव वा रसायनोपयोगेन यथा माण्डव्यो मुनिः रसोपयोद विन्ध्यवासो इति।" इससे भी सिद्ध है कि यह विद्या कितनी पुरानी है।

गुप्तलिपिमें लिखे कुब्जिकातन्त्रमें 'पातेन विहितो वेधः किं व्यञ्जतो न विध्यते। रसविद्धं यथा ताम्रं न भूयस्ताम्रतां ब्रजेत्।" अनुमान है कि यह ग्रन्थ पाँचवीं सदीका होगा। शैव परापर प्रकाशिकामें भी लिखा है "रसविद्धं यथा ताम्रं ताम्रं भावाद्वि मुच्यते। सुवर्णेन सहैकत्वं गतं तद्यानि हेमताम्। एवं स शिवतां प्राप्तो न पुनः पशुतां ब्रजेत्।"

चिकित्साशास्त्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अग्निवेश संहिता सबसे प्राचीन है। वह यद्यपि रसशास्त्रका ग्रन्थ नहीं तथापि उसमें निगृहीत-बद्ध पारद सेवनका प्रयोग कुष्ठ प्रकरणमें कहा गया है—

लेलीतक (गन्धक) प्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः
सप्तदश कुष्ठ घाती माक्षिक धातुश्च मूत्रेण ॥
श्रेष्ठं गन्धक योगात् सुवर्णमाक्षिक प्रयोगाद्वा।
सर्व व्याधि निवर्हण मद्यात्कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥
वज्र शिलाजतु सहितं सहितं वा योगराजेन
सर्व व्याधि प्रशमन मद्यात्कुष्ठी निगृह्य नित्यं च ॥

सुश्रुत चिकित्सास्थान अध्याय २५ में भी पारदके लेप प्रयोगका वर्णन है—

रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च काकोल्यादि क्षीर पिष्टिश्च वर्गः ॥

जैन ग्रंथकार हेमचन्द्रने भी "लब्धः किंचिन्निधानं वा रसो वा साधित स्त्वया" कहकर पारदका उल्लेख किया है। यह उल्लेख सन् ईस्वीसे पूर्व हुए जम्बू स्वामी जैन केवलीका जिक्र करते हुए किया गया है। गरुड़ पुराणके मुक्ताफल परीक्षा नामक ६९ वें

अध्यायमें लिखा है "श्वेतकाच समं तारं हेमांश शतं योजितम्। रस मध्ये प्रधार्येत, मौक्तिकं देह भूषणम्।"

अन्त्येष्टि प्रकरणमें भी पारेका जिक्र है। यदि यह विदेशी होता तो अन्त्येष्टिकर्ममें कभी न लिया जाता और नाथ, तांत्रिक, बौद्ध, जैन मुनियों और साधुओंका यह इतना प्रिय कभी न होता। उस समय विदेशसे पारद प्राप्तिके साधन भी उतने सुलभ नहीं थे। तान्त्रिकों और साधु महात्माओंमें पारदका प्रयोग पहले रस-सिद्धि और जीवन्मुक्तिके लिये बद्धपारदके शिव बनाकर पूजनेके लिये हुआ मालूम पड़ता है। फिर पारद प्रयोगसे शरीरको निरोगी रख दीर्घजीवन प्राप्ति और तपश्चर्या करनेकी ओर इसका प्रयोग हुआ। तन्त्रोंमें पिण्डरक्षा पर बहुत जोर दिया गया है। इसके द्वारा शिवतादात्म्य-शिवजीमें मिलजानेकी घोषणा की गयी है। पारदसिद्धि द्वारा शरीरसिद्धि करनेवालेकी बड़ी महिमा गायी गयी है। कहा गया है कि जड़ी बूटियों और धातुओं-के द्वारा स्थिर रसायन नहीं हो सकता। अतएव "एकोऽसौ रसराजः शरीर मजरामरम् कुरुते। स्थिरदेहेऽभ्यासवशात् प्राप्य ज्ञानं गुणाष्टको पेतम्। प्राप्नोति ब्रह्मपदं, न पुनर्भव वास दुःखानि"

धीरे धीरे धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तिके साथ इसमें आधिभौतिक प्रवृत्तिने जोर मारा और कीमियां तैयार करनेमें उन्होंने अपनी शक्ति और बुद्धि लगायी। नाथ सम्प्रदायके साधुओंने योगशास्त्र, भक्तिशास्त्र, रसशास्त्र-कीमियां और ब्रह्म-ज्ञानमें साथही बहुत प्रयास किया। अद्वैतमतके महात्माओंने भी इसमें कुछ अनुभव किया था। स्वयं जगद्गुरु शंकराचार्यने अपनी शतश्लोकीमें कीमियां और स्पर्शवेधका जिक्र किया है

दृष्टान्तो नैव दृष्टोः त्रिभुवन जठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति पद हो 'स्वर्णतां अश्मसारम् ॥

रांगेमें कुछ औषधियोंकी भावना देकर चांदी बनाने, पीतलकी गन्ध और कसाव दूरकर सोना कर देने, तांबेसे सोना बनाने, स्पर्शवेध द्वारा एक धातुसे दूसरी धातु तैयार करनेके प्रयोग रस-ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं; किन्तु उनके कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ परम्परावाले साधुओंके सिवाय दूसरोंको मालूम नहीं पड़ते।

आजकलके वैज्ञानिक भी कहते हैं कि बिजलीके तेज़ धक्केसे सोनेका पृथक्करण हो जाता है और उससे गंधक बाहर निकल पड़ता है। कीमिया वाले भी सोना बनानेमें पारद और गंधकका प्रयोग करते हैं; अतएव इस कल्पनामें कुछ सत्यांश अवश्य है। जर्मनी और अमेरिका वालोंने नकली सोना तैयार करनेमें कुछ सफलता भी पायी है। अभी भी भारतमें कुछ साधु चांदी और सोना बना लिया करते हैं। रसग्रंथोंमें धातुपरिवर्तनका प्रकरण इस बातकी कल्पनाको उभाड़ता है कि यदि इस सम्बन्धमें नवीन आलोकका भी सहारा लेकर प्रयत्न किया जाय तो रसायनके बहुतसे रहस्योंका उद्घाटन हो और मौलिक धातुओंके सम्बन्ध-में पाश्चात्य रसायनाचार्योंको फिर भी सोचनेका अवसर मिले। नित्यनाथने रसरत्नाकरमें कहा है

> अभ्रकः मारितं येन पारदे च वशीकृतम्
> द्वारं उद्घाटितं तेन यमस्य धनदस्य च ॥

जो हो भारतीय पारद संस्कार और रस सिद्धिकी विद्या भारतकी ही उपज है। पश्चिमी लोगोंने इस ज्ञानको यहींसे लिया है और इसका प्रमाण यह है कि कुछ शब्दोंको वे समझ नहीं सके और उनका अनुवाद उन्होंने गलत किया है। हमारे रसशास्त्रमें **सिद्धरस** शब्द है; जिसका अर्थ है पारेकी वह स्थिति जब वह बद्धरूप होकर अग्निस्थायी हो जाता है

और फिर वह चांदी और सोना बनानेके योग्य हो जाता है। इस सिद्धिप्रद पारदको "सिद्धरस" कहते हैं। इसे पश्चिम वालों ने ग्रहण करनेका प्रयत्न किया है "Mercury of the Sages" अर्थात् सिद्धोंका रस कहकर किन्तु अनुवाद एकदम गलत है। इसी तरह तांबेको रासायनिक क्रियासे ऐसा कर लिया जाता है कि वह आग पर रखने से काला न पड़े। ऐसे ताम्रको "कालिकारहित ताम्र" कहते हैं। पश्चिम वालोंका Copper without Shadow इसके सिवाय और क्या है? रस (पारद) को पश्चिमी विद्वानों ने Watar of metels कहा है। रस रूप होनेके कारण हमारे यहाँ पारदको रस कहते हैं; परन्तु पश्चिम वालोंने उसे धातुका पानी बना डाला। जब पारदको सिद्धरस बनाकर पत्थरके समान गाढ़ा और कड़ा बना लिया जाता है तब उसे **रसमणि** कहते हैं। इसे पश्चिम वालोंने हैड्रोलिथ अर्थात् 'पानी का पत्थर' नामसे ग्रहण किया है!

रस शास्त्रकी चिकित्सामें परिणति—तान्त्रिक महात्माओं-ने अजरामरत्व और मोक्ष प्राप्तिके लिये रसशास्त्रका प्रयोग किया और उसे यहां तक बढ़ाया कि "रसेश्वरदर्शन" नामसे इस सम्बन्ध का एक दर्शन ही निर्मित हो गया। इसके पश्चात धातुवाद और कीमियांकी ओर प्रवाह बहा और जोर शोरसे वहा। किन्तु प्रथम तो इसमें सिद्धि शीघ्र नहीं होती थी और किसी किसी-को ही होती थी, दूसरे उसमें कठिनाइयां भी बहुत थीं। तीसरे धातुवादका प्रयोग करते समय बहुत सी धातु और उनकी भस्म निरुपयोगी बच रहती थी। उसका उपयोग सोचनेमें रसवेत्ताओं-को मस्तिष्क लगाना पड़ा। धीरे-धीरे उनके चिकित्सा प्रयोग उन्हें मालूम हुए। मालूम पड़ता है इससे रसाचार्योंको बहुत सन्तोष हुआ। उन्होंने देखा कि प्रयोगोंसे बची हुई वस्तुओंको

कुछ क्रियाओंके पश्चात् रोग नाश करने और जनताका उपकार करनेमें विनियोग हो सकता है। इस उपयोगिताने उन्हें बहुत आकर्षित किया और इधर उन्होंने अधिक मनोयोग देना आरम्भ किया। इस शास्त्रके कितने ही महान आचार्य हुए। रसरत्न समुच्चयकारके समय तक २७ महान रससिद्ध हो चुके थे, उसके बाद भी बहुत हुए। धड़ाधड़ रसग्रन्थ निर्मित होने लगे और इस विद्याने एक सुसंगठित चिकित्सा शास्त्रका स्वरूप ग्रहण किया। इन आचार्योंकी प्रयोगशाल हजारों और लाखोंके यन्त्रोंकी आवश्यकता नहीं। साधारण भट्टी, घरिया, मूषा, हण्डी, यन्त्र, पुटके गड्ढे आदिसे चमत्कारिक रासायनिक प्रयोग होने लगे। इन आचायमें नागार्जुनने बहुत नाम कमाया। यह पहले ब्राह्मण और तान्त्रिक था, फिर जैन सा‍ु पादलिप्ताचार्यके सम्पर्कसे रससिद्धि प्राप्त की और सुवर्ण तैयार करनेकी कला भी अवगत हुई। फिर हिन्दमहासागरके एक द्वीपमें जाकर एक महात्मासे खेचरी विद्या सीख कर आकाशमें भ्रमण करनेकी कला भी सीखी। आगे चलकर बौद्ध माध्यमिक सम्प्रदायका एक आचार्य और प्रसिद्ध रस-चिकित्सक हुआ। यह नागार्जुन शक शालिवाहनके समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुआ। शक शालिवाहन इसका मित्र था। एक नागार्जुन नालन्द विश्वविद्यालयक रसायनाचार्य और आगे चलकर लपति हुआ। कहा नहीं जा सकता कि ये दोनों नागार्जुन एक ही थे या भिन्न समयमें दो हुए। इन रस सिद्धोंके ग्रन्थोंमें कुछ तो संहिताके रूपमें, कुछ सूत्र ग्रन्थके रूपमें, कुछ वार्तिक रूपमें और कुछ निघण्टुके रूपमें लिखे मिलते हैं। आस्तीक, दस्रसंहिता, भालुकी आदि ग्रन्थकारोंके नामोंसे मालूम पड़ता है कि ये लेखक सन् ईस्वीके बहुत पहले महाभारतके इधर हुए होंगे। अर्थात् रस ग्रन्थोंकी परम्परा भी चार, पांच हजार वर्षके पहलेकी

मालूम पड़ती है। महाभारतके समयमें काश्यप और महाभारतके बादके आस्तीक सर्पविद्यामें पारंगत थे। श्री कृष्णके गुरु गर्गाचार्यको भगवान शंकरने काल यवनके समान बलवान पुत्र उत्पन्न होनेके लिये एक वृष्य योग बतलाया था।

लौह सिद्धिसे देह सिद्धिकी ओर झुककर रसाचार्यों ने रसायन शास्त्रकी दृष्टिसे बड़ी बड़ी खोजें कीं। उन्होंने वनस्पतियोंके रस-वीर्य-विपाकका ज्ञान प्राप्त कर पृथक पृथक कितने ही गण निश्चित किये। कौन कौन वनौषधि पारदके संस्कारोंमें उपयोगी है और किस संस्कारमें कैसा प्रभाव प्रकट करती है, यह न जाने कितने प्रयोगों और अनुभवोंके पश्चात् उन्होंने निश्चय किया होगा। खनिज पदार्थोंमें रस-उपरस-धातु-उपधातुकी श्रेणियां निश्चित कीं। यही नहीं, उन्हें शरीरोपयोगी बनानेके लिये यह आविष्कार किया कि धातुके दोष शरीरको बाधक न हों, वह शरीरके भीतरकी धातुओंमें मिलकर अपना गुण प्रकट करें। उन्होंने देखा कि मनुष्य अधिकांशमें अन्न-फल-शाक जीवी है, यही उसके शरीरके लिये सात्म्य है, इसलिये उन्होंने धातुओंका शोधन निकाला। भिन्न भिन्न धातुओंके लिये भिन्न भिन्न शोधनकी युक्तियां और उनके लिये भिन्न भिन्न जड़ी बूटी निश्चित कीं। इस प्रकार धातुओंकी तीव्रता, दुर्जरता आदि नष्ट कर, जड़ी बूटियोंके योगसे ही उन्हें भस्म कर उनका औषधि प्रयोग निश्चित किया। इस भस्म रूपमें वे धातु शरीरके रस रक्तादिमें घुलनशील हो गयीं और मानव शरीरकी कमी अपने गुणकर्मानुकूल समान धातु बढ़ाकर पूरी करने योग्य बन गयीं।

उन्होंने अपनी खोज और प्रयोगोंके बल यहाँ तक जाना कि किस वनौषधि और किस धातुमें कौन-कौन खनिजोंका संयोग है। इसे समझकर उन्होंने मानवशरीरकी उन्नतिके अद्भुत प्रयोग

निश्चित किये। उन्होंने तूतियासे ताम्र निकालना और बरसाती कीड़े केचुवेसे भी ताम्र निकालकर खनिज ताम्रसे भी अधिक उसके गुण और उपयोग ढूँढ़े। किस धातु या बनौषधिमें विद्युत-शक्ति है, किसमें पारद शक्ति है, किसमें किस धातुके कितने अंश हैं, यह भी उन्होंने समझा। उन्होंने देखा कि सब धातु और खनिजोंमें पारद प्रधान है, उसकी सत्ता सर्वव्यापक है और उसकी शक्तिसे उनकी शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार अभ्रक, वैक्रान्त, सुवर्णमाक्षिक, शिलाजीत, तूतिया, खपर, गन्धक आदिको गलाकर उनमें से सत्व या द्रुति (द्रवरूप) रूप सत्वांश निकाले और उनसे चमत्कारिक औषधि प्रयोग बनाये। गन्धकका तेल निकालकर धातुओंका स्वरूप परिवर्तन करनेमें उन्होंने अद्भुत कौशल प्रकट किया। गन्धक, नमक, शोरा आदिके द्राव (एसिड) बनाकर धातुवाद और देहसिद्धिके कार्यों-में कितनी ही जटिलताओंको हल किया। खनिज, जंगम और वानस्पतिक विषोंकी अद्भुत खोज की। उनके विषत्व और तीक्ष्णत्व को संयत करनेके लिये उनके शोधनकी विविध विधि निश्चित की। यही नहीं उन में अमृतत्व लाकर उनके औषधि प्रयोगोंसे नाना रोग नष्ट करनेकी उन्होंने युक्ति निकाली। इन सब प्रयोगोंके लिये उपयोगी उन्होंने कितनी ही परिभाषाएँ निश्चित कीं।

सबसे अधिक चमत्कारिक बुद्धि वैभव उन्होंने पारदके संस्कार निश्चित करनेमें प्रकट किये। पारदको वशमें कर मानों उन्होंने विश्वकी अखिल विभूतिको वशमें करनेकी कुञ्जी पा ली। उन्होंने देखा कि यदि पारदको जलके साथ रखा जाय तो वह जलके साथ सूर्यकी किरणोंके प्रभावसे उड़ जाता है, किसी पदार्थके साथ मिलाकर शोधें तो मेलमें अदृश्य हो जाता है, अग्नि पर रखनेसे धुएँके साथ उड़ जाता है। उन्होंने देखा कि पारदमें कई

कञ्चुकी दोष हैं और मलरूपसे कई धातुएँ हैं। उन दोनों को दूर करनेकी तरकीब भी उन्होंने निकाल ली। जैसे परमात्मामें सब जीव लीन हो जाते हैं, उसी तरह सब धातु पारदमें लीन हो जाती हैं; इसलिये उन्होंने शरीर को जरा रहित दीर्घजीवी बनानेमें पारदको प्रधान साधन समझा। उन्होंने देखा रोगी शरीरसे जप-तप-ध्यान कुछ साधन सिद्ध नहीं होता, इसलिये शरीरकी स्थिरताके लिये उन्होंने पारदकी स्थिरता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। उन्होंने पारदके १८ संस्कार निकाले। क्षार और अम्ल औषधियोंके काढ़ेमें दोलायन्त्रसे पारद को लटकाकर स्वेदन करके उसके मलोंको शिथिल किया। फिर कितनी ही औषधियोंके साथ उसे घोटकर वे शुद्ध कर लेते थे। पारदके सप्त कंचुकी दोष मिटानेके लिये उसका मूर्छन संस्कार उन्होंने ढूंढ़ निकाला। मूर्छन संस्कारसे पारदमें जो शिथिलता आ जाती थी उसे उत्थापन संस्कारसे दूर करने लगे। फिर ऊर्ध्वपातन, अधः पातन और तिर्यक पातन कर उसके सब दोष नष्ट कर देते थे। आजकलके रसायन शास्त्री यह कार्य कांचकी नलियोंसे करते हैं; किन्तु वे मिट्टीके यन्त्रोंसे ही काम निकालते थे। इसके पश्चात पारदकी चपलता नष्ट करनेके लिये रोधन संस्कार करते थे। फिर उसकी शक्ति बढ़ानेके लिये नियमन संस्कार किया जाता था। दीपन संस्कार द्वारा पारदके अग्निकी तीव्रता बढ़ाकर उसमें कार्य करनेकी तीव्रता, वेगकारित्व, व्यापकत्व, भुभुक्षा और बलकी वृद्धि कर लेते थे। इसके पश्चात उसमें अभ्रक सुवर्ण आदिको ग्रस लेनेकी शक्ति आ जाती थी। फिर चारण संस्कार कर अभ्रकादिका पारदमें अन्तर्भाव कर देते थे। गर्भद्रुति द्वारा सब धातु उसमें एक रस हो जाती थीं। इस प्रकार द्रुति कर जारण करते थे जिससे कई गुणा धातुओं-

का उसमें जारण होता था और उसमें सर्व सिद्धि कर शक्ति आ जाती थी। सोना, चांदी बनाने योग्य पारदमें सारण, क्रामण और वेधन संस्कार किया जाता था। इस संस्कारित पारदसे पूर्ण देह सिद्धि होती थी। किन्तु अठारह संस्कार करना सहज नहीं था, अतएव औषधि कर्ममें पीछे चल कर आठ संस्कार ही प्रचलित रहे। इन संस्कारोंको करते समय उन्हें पारदकी अनेक गति विधि और स्वरूप परिवर्तनके अनुभव हुए। उन्होंने देखा कि पारदका ऊर्ध्वपातन करनेमें उसके कुछ कण लाल रंगके ऊपर लग जाते हैं इस पर उन्होंने रससिन्दूर, चन्द्रोदय मकरध्वज आदि बनानेकी विधियां निकालीं। रसकपूर आदिकी प्रक्रिया भी ज्ञात की। अपने अपने अनुभवके अनुसार, आचार्यों के विचारोंमें परिवर्तन भी समय समय पर होता रहा।

इन प्रयोगोंमें रसाचार्योंके हाथ कुछ ऐसे भी अनुभव लगे जिनका सम्बन्ध चिकित्सा कार्यसे नहीं था, वे कौतुक उत्पन्न करने वाले थे। बारूद कैसे बनावें, तोपों और सुरंगोंके द्वारा किले किस प्रकार ढहाये जावें, इसके प्रयोग भी रुद्रयामलके रसायन शास्त्र तथा रसावर्णव कल्पमें मिलते हैं। शैलोदक, उष्णोदक, रक्तोदक, विषोदक अमृतोदक, चन्द्रोदक आदि द्रवों (mineral waters) के उपयोग भी कहे गये हैं। चर्पटी नाथको वाताकर्षण विद्या आती थी। यह सब कार्य थोड़े बहुत पन्द्रहवीं शताब्दी तक होते रहे; किन्तु ज्यों ज्यों पराधीनताका अंधकार घनीभूत होता गया, अशांति और सहायता का अभाव बढ़ता गया त्यों त्यों मौलिक कल्पनाका भी अन्त होने लगा। पश्चिमी वैज्ञानिकोंको आरम्भमें चाहे जैसी असुविधाएं भोगनी पड़ीं हों; किन्तु इधर कई शताब्दीसे उन्हें सरकार और जनतासे काफ़ी सहायता मिलती आ रही है, अतएव उन्होंने अपनी दिशामें

उन्नति भी भरपूर की है। यदि प्राचीन और आधुनिक ग्रंथ और अनुभव इकट्ठे किये जावें, उनके सिद्धांत, अनुभव और उपयोगोंका संकलन कर विधि बैठायी जावे और नये ढंगसे उपाय योजना की जावे तो यह रसायनशृंखला महत्वपूर्ण होगी। पश्चिमी रसायन विज्ञान इस समय बहुत उन्नति पूर्ण है। जो भारतीय वैज्ञानिक पश्चिमी विज्ञानमें अच्छी गति रखते हैं और भारतीय विज्ञानका भी अनुशीलन कर सकते हैं वे यदि इस ओर दत्तचित्त हों तो भारतीय भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान एक नयी दिशामें अच्छी उन्नति कर सकते हैं और संसारको नयी-नयी बातें उपहारमें दे सकते हैं।

उपसंहार—पश्चिमी विज्ञानमें अभी अस्थिरता बहुत है, पहले मौलिक पदार्थोंकी संख्या थोड़ी थी, किन्तु अब बढ़कर ९२ तक पहुँची है। स्थिर सिद्धान्त न होनेसे वह बढ़ती ही जा सकती है, या नीचे भी उतर सकती है। जिन्हें १० वर्ष पहले अमिश्र पदार्थ कहते थे उन्हें अब मिश्र कहा जा रहा है, एक जिन्हें मूल पदार्थ कहता है, दूसरा उसका विश्लेषण कर मिश्र पदार्थ बनाता है। पहले आक्सिजन को अम्लोत्पादनका मूल समझा जाता था; किन्तु अब सिद्ध हुआ है कि बिना आक्सिजनकी भी कई एसिड हैं। खैर और अनुभवोंका तो अन्त नहीं है; किन्तु यदि पञ्चतन्मात्राको आजकलका विज्ञान स्वीकार कर ले तो सिद्धान्तों-में स्थिरता सम्भवतः आ जाय। तन्मात्र शब्दमें परमाणु सदृश सूक्ष्म अमिश्र पदार्थका बोध होता ही है। अत्यन्त सूक्ष्म अवयवहीन अथच परम्परामें सबका अवयव और सभी सूक्ष्म पदार्थ की अन्तिम सीमा स्वरूप ये तन्मात्र हैं, परमाणु हैं। पदार्थोंका भाग करते करते जब ऐसी स्थिति उपस्थित हो कि और भाग न हो सकें तब उसे परमाणु कहते हैं, तन्मात्र भी ऐसे ही परमाणु

हैं। दो परमाणुओंके संयोगको अणुऔर तीनके संयोगको त्रसरेणु कहते हैं। इसी प्रकारके पञ्चतन्मात्रकेपञ्च परमाणु द्वारा पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्तको प्राचीन रस शास्त्रियोंने भी स्वीकार किया है। आक्सिजनका आविष्कार हमारे पारद संस्कारसे ही हुआ है। रसाचार्योंने यह तो देखा कि पारदको बन्द पात्रमें रख उत्ताप देनेसे उसका कुछ अंश लाल कण रूपमें नली या शीशीमें (रेड आक्साइड आफ मर्करी) लग जाता है। इसीसे उन्होंने बालुकायन्त्र, चन्द्रोदय-मकरध्वज-रससिन्दूर आदिकी खोज की। वे यह भी जानते थे कि इसी क्रियामें बन्द शीशीका वायु घट जाता है; और अधिक तापसे उत्पन्न उस वाष्पमें दहन क्रिया आती है, यह सब मकरध्वजकी तैयारीमें परीक्षा द्वारा जाना भी जाता है। मकरध्वजकी शीशीमें जब लोहे-की शलाका डालनेसे वह जल उठती और नील शिखा देती है तब जाना जाता है कि मकरध्वज तैयार हो गया। यही तो आक्सि-जन है! किन्तु उनका ध्यान औषधिकी ओर था, वायु या, गैसकी ओर उन्होंने ध्यान न दिया; किन्तु मकरध्वजके गुणमें इस वाष्पकी भ ी क्रिया काम करती है यह शायद वे समझ गये थे; जो हो, इसी ढंगकी पारदकी प्रक्रियामें लावोजियेईने आक्सि-जनका आविष्कार किया। किन्तु यह नाम अब भ्रम जनक हो रहा है, क्योंकि Oxus का अर्थ अम्ल और gen का अर्थ उत्पन्न करना है। परन्तु अब तो यह भ्रान्ति मूलक सिद्ध हो रहा है। प्राचीन रासायनिक जानते थे कि पञ्चमहाभूत मूल पदार्थ हैं और वायुसे ही अन्य भूतोंकी जब उत्पत्ति होती है, तब वायुके सिवाय पदार्थ रह ही नहीं सकते। आकाश और वायुके संघर्षसे तापका उद्भव होता है। अतएव संसारके सभी पदार्थोंमें कम अधिक ताप विद्यमान है। यही नहीं वायु और अग्निके योगसे

जलकी उत्पत्ति है और जलसे ही ताप और वाष्पकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष होती है, तब जलके विना भी कोई पदार्थ रह नहीं सकता। इसी ज्ञानपर रसाचार्योंके संस्कार-शोधन-स्वेदन-भावना-मारण आदि क्रियाओंका आधार था।

अणुसंघातके सिद्धान्तको जैनदर्शन भी स्वीकार करता है। "अण्वादीनां संघाताद् द्व्यणुकादय उत्पद्यन्ते। तत्र स्वावस्थिताकृष्ट शक्तिरेवाद्य संयोगे कारणभाव मापद्यते॥" अर्थात् अणु समूहके परस्पर संघातसे द्विअणु और त्रसरेणु आदि उत्पन्न हुए। फिर उन्होंने आकाश-मार्गमें विस्तार लाभ किया; जिससे उन्हें क्रमशः घनत्व और जगद्व्यापकत्व प्राप्त हुआ। अन्तमें उनके बीच मध्यस्थ आकर्षण शक्तिने ही आद्य संयोगसे कारणता प्राप्त की। इसके द्वारा एक जगद्व्यापी आणविक आकर्षण शक्तिका परिचय मिलता है। इस घनीभूत अणुसमूहकी आकर्षण अधिकता द्वारा दूरवर्ती अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर अणुसमूहकी गति तथा वायुके द्रुतगमन और संघर्षण जन्य तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी सृष्टि सूचित होती है। इसके पश्चात मध्याकर्षण सूत्रका अवलम्बन कर रासायनिक जगतका भी रहस्योद्घाटन हो सकता है। मध्याकर्षकणसे महाकाश और पृथ्वीके बीचका आकर्षण साधारणतः समझा जाता है; किन्तु हमारे शरीरमें भी जैसे प्राण और अपानका आकर्षण शरीरको खड़ा रखता है उसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंको भी यह आकर्षण बांधे रहता है। असंख्य परमाणु आकर्षणकी खींचातानसे संयुक्त रहते हैं और जब उनमें आकर्षण संघात विच्छिन्न होता है तब उनका लय भी हो जाता है। इस परमाणु समष्टि तक नये पुराने विज्ञानका मेल खाने योग्य अवस्था पहुँच सकती है। सबसे अधिक उत्तरदायित्व भारतीयोंका है, उन्हें अपने [illegible] पर अपने वज्ञान और रसायनशास्त्रको सामने लाकर

उसे उन्नतिकी ओर ले चलनेका प्रयत्न करना चाहिये। हमारा जो था उसका अभिमान तो आवश्यक है; किन्तु यह बना रहे और आगे अधिक विज्ञान सम्पत्ति भारतीय कोषमें भरती रहे, इसका ध्यान भी आवश्यक है। जिस वैज्ञानिक सत्य की सुदृढ़ नींव पर यह स्थित है, उससे इसकी चरम उन्नति सर्वथा सम्भवनीय और करणीय है। विज्ञानका अर्थ ही है विशेष ज्ञान। विशेष ज्ञान या विशेष रूपसे किसी विद्याको जानना सदा स्थूल बुद्धिके परे होना चाहिये। स्थूल ज्ञानसे स्थूल पदार्थोंकी क्रिया कलाप का बोध हो सकता है; सूक्ष्म ज्ञानके बिना सूक्ष्मतत्वका जानना शक्य नहीं। तथापि सूक्ष्म ज्ञानके लिये स्थूल ज्ञान प्रारम्भिक ककहरा तो हो ही सकता है।

विज्ञानका दारमदार पदार्थोंपर निर्भर है और पदार्थ प्रकृति-के परिणत अंश हैं। इससे बहुत ऊँचे सूक्ष्म ज्ञानमें जाकर इसका मूल मिलता है। सृष्टि रचनाका क्रम ध्यानमें रख विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि आत्मा ज्योतिर्मय, चैतन्य स्वरूप, नित्य, निस्पृह और निर्गुण है; किन्तु प्रकृतिके सहयोगसे सगुण और सक्रिय होकर जगतकी सृष्टि करता है। सत्व-रज-तम त्रिगुण प्रकृतिमें समभावसे रहते हैं। प्रकृति स्वयं जड़ भावापन्न या जड़ है; किन्तु परमात्मा-अव्यय-चैतन्यके सहयोगसे सृष्टिकर्त्री होती है। इसीसे प्रकृतिको शक्ति, नित्या और अविकृति भी कहते हैं। यह प्रकृति प्रधान पुरुषका आश्रय लेकर ही रह सकती है। परमात्मा और प्रकृति दोनों निर्गुण और निष्क्रिय हैं; किन्तु दोनों का मिलन होनेसे दोनों सगुण और सक्रिय हो जाते हैं। जीव देहमें आत्माका संयोग होने पर ही वह सचल और सक्रिय होती है, अन्यथा मृतदेह अचल-निष्क्रिय है। देह जगतके समान बाह्य-जगत भी आत्माके संयोग और सहयोगसे सक्रिय होता है। वह

अव्यक्त, स्वयं कारण हीन होने पर भी सम्पूर्ण जीवोंका कारण है। और सत्व-रज-तम गुणत्रयके लक्षण विशिष्ट हैं। अष्ट रूप विशिष्ट और अखिल जगतकी उत्पत्तिका हेतु हैं। जैसे समुद्र सम्पूर्ण जलका आश्रय है, उसी तरह यह अव्यक्त असंख्य क्षेत्रज्ञोंका आश्रय है। इसी अव्यक्त से अव्यक्त लक्षण विशिष्ट महत्तत्वकी उत्पत्ति होती है और उसी महत्तत्वसे महत्तत्वके लक्षण विशिष्ट अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार वैकारिक, तैजस और भूतादि तीन प्रकारका है। तैजस सहयोगसे वैकारिक अहंकारके द्वारा अहंकारके लक्षण विशिष्ट पंचज्ञानन्द्रिय + पंचकर्मेन्द्रिय + मन संयुक्त एकादश इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। मन उभय इन्द्रियात्मक है। तैजस अहंकारके सहयोगसे भूतादि अहंकार द्वारा भूतादि अहंकार विशिष्ट पञ्चतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। उन पंचतन्मात्रोंके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुण हैं उन्हीं पंचतन्मात्राओंसे यथाक्रम आकाश-वायु-अग्नि-जल और पृथ्वी पंचभूतकी सृष्टि हुई। इस प्रकार पंच विषयके अर्थ पंचज्ञानेन्द्रिय + पंचकर्मेन्द्रिय + ५ तन्मात्र और ३ अव्यक्त-महान-अहंकार मिलकर ८ प्रकृति और एक मन मिलकर २४ तत्व हुए। इन २४ तत्वोंकी सृष्टि अचेतन है। उसमें कार्यकारण प्रयुक्त परमात्मारूपी पचीसवें सचेतन तत्वके मिलनेसे चेतनता आती है। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि लक्षणहीन, नित्य, सबमें श्रेष्ठ और सर्वगत हैं। प्रकृति अकेली, अचेतन, निर्गुण, वीजधर्मिणी, प्रसवधर्मिणी और अमध्यस्थ-धर्मिणी है। पुरुष बहुत है, चेतना विशिष्ट, निर्गुण, अवीजधर्मी, अप्रसवधर्मी और अमध्यस्थ धर्मी है। कारणके अनुरुप कार्य होता है; अतएव जगतके सम्पूर्ण पदार्थ सत्व-रज-तम मय हैं। तन्मय, तद्गुण और तद् लक्षण विशिष्ट असंख्य भूतग्राम प्रकृतिसे उत्पन्न होती है। ये भूतग्राम ही चिकित्साके विषय हैं।

वहींसे भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, कृषि विज्ञान आदिका अलग स्रोत बहता है। यहांसे सूक्ष्म तक पहुँचने पर ही नये पुराने विज्ञानका मेल होगा और यह संगमजन्य वृहत धारा मानव जगतका और भी अधिक कल्याण साधन कर सकेगी।

विज्ञानकी देन

गत शताब्दीके भीतर विज्ञानने जो चमत्कारिक उन्नति की है और उस उन्नतिसे जो भौतिक उपकार हुआ है, उससे विज्ञानके साथ हमारे जीवनका निकट सम्बन्ध बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है। उसने जड़ और शक्ति-सम्पन्न चैतन्यको एकदम अलग कर दिया। आधुनिक विज्ञान-के नवयुगके प्रारम्भमें (गैलिलियोके समय) शक्तिके सम्बन्धमें अस्पष्ट धारणा थी। उष्णता, प्रकाश, विद्युत आदिकी शक्तिके भिन्न रूप समझनेमें कुछ समय लगा। गति और उत्तापकी शक्ति, शब्द और तापका द्रव्य परमाणुके स्पन्दनसे सम्बन्ध, शब्दका परमाणु स्पन्दनसे सम्बन्ध, विद्युत और चुम्बक शक्तिका सामीप्य, प्रकाशका ईथरके विद्युत चुम्बकत्व शक्तिसे उत्पत्तिका सम्बन्ध, इन सबका परस्पर सम्बन्ध समझकर विज्ञानने जो क्रान्ति की है उससे भौतिक उन्नतिमें बहुत सहायता मिली है! वस्तु विकीर्ण-शक्ति और प्रकाशकी सहायतासे वाह्य जगतकी जानकारी अधिक हुई है। रश्मि सप्तकके आलोक-ज्ञानसे चिकित्सा-जगत भी लाभवान हुआ। महाभारतमें जब हम पढ़ते थे कि सञ्जयको बादरायण व्यासकी बतायी युक्ति या उनकी दी हुई शक्तिसे हस्तिनापुरमें बैठे हुए महाभारतका दृश्य दिखता था और वहाँके कथोपकथन सुनाई पड़ते थे, तब हमें आश्चर्य होता था; किन्तु आज आलोक शक्ति और रेडियोने उसे बहुत

कुछ विश्वास योग्य बना दिया है। बौद्ध ग्रन्थोंसे मालूम पड़ता है कि जीवक वैद्यके पास ऐसा यन्त्र था जिसके शरीर पर लगानेसे शरीरके भीतरके भाग दिखते थे। हो सकता है उन्हें एक्सरेके समान किसी किरणका पता रहा हो। पुराणोंमें लिखा है कि दूर बैठे ऋषि लोग परस्पर बात कर लेते थे, भूत भविष्यकी घटनाएँ देख लेते थे, वह चाहे योग-शक्तिसे ही होता रहा हो; किन्तु तार और टेलीफोनने उसके निकट पहुँचनेका उपक्रम किया है। इसने इस धारणाको जन्म दिया है कि रासायनिक द्रव्य दृश्यालोककी अपेक्षा सूक्ष्मतर तरङ्ग-रश्मिको नीचे ठेलकर दृष्टिपथमें लाते हैं। कौन जाने ऋषियोंकी दिव्यदृष्टि या चक्षु ज्ञानमें माइस्क्रोस्कोपकी तरह कोई यन्त्र था या नहीं। ऋषियोंका त्रिकाल दर्शन टेलिस्कोपके सहारे होता रहा हो तो कौन आश्चर्य। वाराहमिहिरने यन्त्र सहायतासे तीनों कालमें खगोल देखनेकी बात• लिखी थी। एक्स किरणोंकी भेदकारी शक्ति भी हमें चमत्कृत कर रही है। रेडियमकी गामा रश्मिकी सूक्ष्मता और व्योमरश्मि—कास्मिक रे—की एक्स किरणोंसे भी शक्ति-सम्पन्नता आश्चर्यजनक है। ग्रहोंकी गति, उनकी शक्ति, उनके प्रभावका हमारे जगत्‌में पड़नेवाले प्रभाव आदिको जानकर तिथि निश्चय तथा ग्रहण आदिकी घटना पहले ही बता देनेके कारण ज्योतिषका हमारा निकट सम्बन्ध बहुत पुराने समयसे हो रहा है। किन्तु अब अरिस्टाइल प्रभृति-के सिद्धान्त ज्ञान ने पृथ्वी पर ग्रहोंके आलोक पहुँचनेका रहस्य भी खोल दिया है। जैसे शब्द वायुमें परिचालित होकर कानों तक पहुँचता है, उसी तरह आलोक भी निकलकर विशेष द्रव्य-की सहायतासे बहता हुआ नेत्रोंको स्पर्श करता और हमें दिखता है। अब तो यह भी जाना गया है कि आलोककी गति प्रति

सेकण्ड १ लाख ६६ हजार मीलके अन्द्राज है। रामायण महा-भारतके युद्धोंमें अग्निवाण, वरुणवाण, वायुवाण आदिके चमत्कार पढ़नेको मिलते हैं। आजके युद्धके बम, विषाक्त और रुलानेवाली गैस, धुएँके बादल आदिका प्रत्यक्ष प्रयोग देख उसकी सत्यता सिद्ध हो रही है। पुष्पकविमान और देवताओंके व्योमयानोंकी कथा एक पहेली ही थी। किन्तु आजके हवाई जहाजोंने उसे सवसम्मत विषय बना दिया है और राष्ट्रोंकी भलाई बुराई बहुत कुछ उन पर ही निभर दिखती है। रावणने अग्नि और प्रकाशको वशमें कर रखा था उसे भाफ और विद्युत्की शक्तिसे होनेवाले चमत्कारिक कार्यों ने समझने योग्य बना दिया है। वजन या भारके सम्बन्धमें भी आधुनिक विज्ञान-ने जो प्रकाश डाला है, उससे हमारा निकट सम्बन्ध है। एक मनुष्य समस्त जीवनमें जिस शक्तिका व्यय करता है उसका वजन ढाई तोलेके ६० भागका एक भाग होता है। जड़ वस्तुका भार स्थायी और नित्य है; किन्तु किसी वस्तुसे शक्ति निकलने पर उसका भार घटता है। किसी वस्तुके जलनेसे उससे जो ताप या आलोक बाहिर होता है, उससे उसका कुछ वजन घटता है। भारतीय प्राचीन सिद्धान्त की इससे पुष्टि होती है।

आधुनिक विज्ञानने जो कीटाणुशास्त्रका ज्ञानवर्धन किया है, उससे चिकित्सा क्षेत्रमें हलचल मच गयी है; किन्तु भारतीयोंके लिये इसमें कोई आश्चर्य या नवीनताकी बात नहीं है। हां उसके विस्तृत प्रकरणसे आत्मपुष्टिकी प्रसन्नता अवश्य है। आयुर्वेद यह मानता है कि वायुमण्डलमें और जलमें अनेक प्रकारके कीटाणु रहते हैं। इसी तरह उसे यह भी विदित है कि हमारे शरीरमें भी अनेक प्रकारके कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं या पहुँच जाते हैं। मल, मूत्र, रक्त तथा कफमें कीटाणु आश्रय कर

रह सकते हैं। उसमें बीस प्रकारके कृमिका नामसंस्कार भी किया गया है। कहा है—

"कृमयश्च द्विधा प्रोक्ता वाह्याभ्यन्तर भेदतः।
वहिर्मल कफाऽसृग् विट् जन्म भेदाच्चतुर्विधः।"
नाम तो विशंति विधा......

इस प्रकार वाह्यमल अर्थात भूमिविकृति, जल विकृति, वायु विकृति, और शरीरज मलके कारण होनेवाले वाह्य कृमि होते हैं। अभ्यन्तर कृमि कफ (शरीरके सम्पूर्ण द्रवांश और क्लेदांश), रक्त और विट (शरीरस्थ मल-मूत्र आदि मलिनीभूत अंश) में उत्पन्न होते हैं या बाहरसे पहुँच कर शरीरमें आश्रय पाते हैं। इस तरह तीन प्रकारके मिलकर जन्मभेदके कारण चार प्रकारके कृमि कीटाणु माने गये हैं। यही नहीं यह भी कहा गया है कि इनमें कुछ दृश्य होते हैं अर्थात् नेत्रोंसे दिखलाई पड़ते हैं और कुछ अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अदृश्य होते हैं "केचिद् दृश्याः केचिद् अदृश्याः" प्राचीन आयुर्वेदज्ञ किसी साधनसे (जिसका वर्णन इस समय नहीं मिलता) अदृश्य कृमि कीटाणुओंको देखते भी थे। क्योंकि उन्होंने लिखा है कि वे "अपादाश्च ताम्राश्च सौक्ष्म्यात-केचिद्‌अदर्शनाः" यह वर्णन आजकलके वर्णनसे मिलता जुलता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रसे देखकर आजकलके वैज्ञानिक कहते हैं, इन कीटाणुओंमें हाथ• पैर आदि कोई शरीरांग नहीं होते। वे विन्दुके समान सूक्ष्माकारके होते हैं, उसी विन्दु रूपमें कोई पाई (।) के समान, कोई कामा (,) के समान कोई फुलस्टाफ (.) के समान होते हैं। अथर्ववेदमें लिखा है कि अदृश्य कृमि-नाकके द्वारा और मुखके द्वारा शरीरके भीतर पहुँचते हैं। कोई समानरूप, भिन्न रूप, कोई काले, कोई लाल, काले दागवाले, लाल दागवाले, काली भुजावाले, तीन शिरवाले, कोई चित्रवर्ण

भूरे सफेद आदि होते हैं। आयुर्वेदज्ञोंने यहां तक जाना था कि कुष्ठ, कई प्रकारके ज्वर (मैलेरिया, न्यूमोनिया, टाईफाइड आदि), क्षय, नेत्ररोग, प्रतिश्याय, गर्मी, सुजाक, कालरा, प्लेग आदि संक्रामक या औपसर्गिक रोग आदिमें ये कीटाणु पाये जाते हैं और इन कीटाणुओंका संक्रमण एक मनुष्यसे दूसरेमें भी हो जाता है। "प्रसंगात् गात्र संस्पर्शात् निःश्वासात् सहभोजनात्। सहशैयासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्। औपसर्गिक रोगांश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्" इस प्रकार उनके संक्रमणकी विधि और कारण भी बताये गये हैं। "कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च, नेत्राभिष्यन्द एवच। औपसर्गिक रोगांश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्।" प्राचीन वैदिक साहित्यमें भी इस सम्बन्धकी बहुतसी बातें हैं। सूर्यकी दो प्रकारकी किरणें हैं, एक जलका शोषण करती हैं, दूसरी प्रकाश देती हैं (श्वेताश्वतर)। उदय होते हुए सूर्यकी किरणें लाखों कीटाणुओंका संहार करती हैं। दृश्य और अदृश्य द्योतक राक्षण कीटाणुओंको पूर्वसे उदय होता हुआ सूर्य नष्ट करता है। राजयक्ष्माके रोगीके लिये समुद्रतटका वायु बलवर्द्धक और पर्वतीय वायु रोगनाशक कहा गया है; क्योंकि इसके प्रभावसे क्षयके कीटाणु नष्ट होते हैं। वायुको भेषज रूपी जीवनीशक्ति प्रदान करनेवाला कहा गया है। (अथर्ववेद)। इतना होने पर भी आजकलके वैज्ञानिक इन कीटाणुओंको रोगोत्पत्तिका आदि कारण मानते हैं। इसे आयुर्वेद स्वीकार नहीं करता। रोगोत्पतिका कारण तो वात-पित्त-कफके प्रकोपसे शारीरिक विकृति ही है। शारीरिक विकृति हुए बिना शरीरमें कीटाणुओंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और यदि हो भी तो अविकृत शुद्ध शरीरमें वे अपना प्रभाव प्रकट नहीं कर सकते। इसलिये कीटाणु रोगोत्पत्तिके मूल कारण नहीं, विकृति होने पर वे रोगके सहायक कारण हो सकते हैं। किस

प्रकारके शरीरमें कीटाणुओंको सहारा मिलता है, इसे भी आयुर्वेद बतलाता है। "अजीर्ण भोजी मधुराम्ल नित्यो, द्रवप्रियः मिष्ट गुडोपभोक्ता। व्यायाम वर्जी च दिवाशयानो, विरुद्ध भुक् संलभते कृमींश्च।" सारांश यह कि आहार-विहारके दोष और गर्मी-सर्दी आदिके आगन्तुक कारणोंसे वात-पित्त-कफकी विकृतिसे कीटाणुओंको शरीरमें आश्रय मिलता है। उन्हें नष्ट करनेके लिये इञ्जेकशन द्वारा शरीरमें विष पहुँचानेके बदले दोष-विकृति दूर कर शरीरमें रोग प्रतिरोधक शक्तिकी वृद्धि करना अधिक श्रेयस्कर है। इञ्जेकशनसे कीटाणु समूल नष्ट नहीं होते वे कुछ दिनोंके लिये क्रियाहीन हो जाते हैं और दोषविकृति बनी रहनेसे उनका फिर आक्रमण हो सकता है। इसलिये दोष और प्रकृति-साम्य ही कीटाणुओंका ठीक उपाय है। इस प्रकार यहां केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है। भिन्न भिन्न रोगोंके प्रकरणमें आयुर्वेदमें इनका और भी वर्णन है। किन्तु आधुनिक विज्ञानके द्वारा इस विषयमें बहुत अधिक प्रकाश पड़ा है। उनके आकार प्रकार, कार्यविधि, वंशविस्तार आदिका विस्तृत वर्णन प्राप्त हो सका है। सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रके द्वारा उन्हें देखना सम्भव हुआ है। इस ज्ञान-विस्तारमें विज्ञानकी सहायता सराहनीय है। आशा है आगे चलकर वैज्ञानिक लोग यह आग्रह भी छोड़ देंगे कि ये रोगोत्पत्ति-के मूल कारण हैं। यह तो वैज्ञानिक मानने भी लगे हैं कि सभी प्रकारके कीटाणु रोगोत्पादन नहीं करते। यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि सभी मनुष्योंमें उनका असर एकसा नहीं होता। विज्ञानमें आग्रहको स्थान नहीं।

शस्त्रक्रियाके क्षेत्रमें भी वर्तमान विज्ञानने चमत्कारिक स्थिति उत्पन्न की है। अवश्य विज्ञानकी यह देन महत्वपूर्ण है। किन्तु साथ ही हममें यह विचार उठता ही है कि पुराने समयमें आयुर्वेद-

नेइसमें जितनी उन्नति की थी, यदि वह परम्परा अनेक कारणोंसे दो-ढाई हज़ार वर्षोंसे रुक न गयी होती और राजकीय सहायता जैसी आजकल पश्चिमी विज्ञानको सुलभ है, वैसी ही उसे मिलती जाती तो इस क्षेत्रमें और भी अधिक महत्वपूर्ण प्रगति हुई होती। हार्वेस सैकड़ों वर्ष पहले आर्य वैद्य जानते थे कि रक्त किस प्रकार बनता है, यकृत और प्लीहामें किस प्रकार क्रिया होकर उसमें लालिमा आती है, किस प्रकार हृदय और फुफ्फुस तथा सारे शरीरमें उसका परिभ्रमण होता है। वे कटे पाँवोंकी जगह लोहेके नकली पाँव लगा सकते थे। नासासंधान कर सकते थे, कटे सिर जोड़ सकते थे, आश्चर्यजनक नेत्र चिकित्सा कर शस्त्रक्रियामें सफलता लाभ करते थे। मूढ़ गर्भ ऐसी आजकल भी कठिन समझी जानेवाली शस्त्रक्रिया करते थे, पथरी निकालते और उसे भीतर ही गला सकते और चूर्णकर सकते थे। दाँत उखाड़ते और दूसरे दाँत लगा सकते थे। शस्त्रकर्ममें लगनेवाले साधारणत: १०१ यन्त्रोंका उपयोग करते थे। पश्चिमी विद्वान यह जानकर दङ्ग रह जाते हैं कि उनके शस्त्रोंकी धार इतनी तेज और बारीक होती थी कि बाल लम्बा चीरा जा सकता था। बीस प्रकारके नाड़ी यन्त्र, अट्ठाईस प्रकारके शलाका यन्त्र, २५ प्रकारके स्वस्तिकयन्त्र, सन्दंशयन्त्र और तालयन्त्र, चिमटी, सँडसी आदिका उपयोग करते थे। हमारे लिये यह अभिमानका कारण है कि पश्चिमी चिकित्सकोंने उनमेंसे अधिकांशको ज्यों का त्यों ग्रहण किया है और बहुतोंके तो नामोंका भी उसी तरह अनुवाद कर लिया है। प्राचीन वस्तियन्त्रको चमड़ेके बदले धातुका बनाकर ज्यों का त्यों ले लिया गया है। दाँत बैठ जाने पर मुँह खोलनेका यन्त्र, योनिव्रणेक्षणयन्त्र, गर्भाशय द्वार बढ़ाकर देखनेका (Dilator) यन्त्र, गले के शल्य निकालनेके यन्त्रोंका उपयोग

ग्रहण किया गया है। घाव बाँधनेकी १४ प्रकारकी पट्टियोंका सहारा भी लिया गया है। यूरोपके यूनान देशमें पहले पहल सन् ईस्वी० ३०० वर्ष पहले हीरोफाइलसने मुर्देकी चीर-फाड़ कर शरीर निरीक्षण किया। इसके सैकड़ों वर्ष पहले धन्वन्तरि और सुश्रुतके ज़मानेमें शवच्छेद कर शरीरावयवोंका परिचय प्राप्त किया जाता था और शस्त्रक्रियामें अभ्यास कराया जाता था; किन्तु आज भारतीय वैद्योंके सामने यह एक समस्या रूपसे वर्तमान है, जिसे उन्हें वर्तमान ज्ञानलोकमें हल करना है। इस समय भी परस्पर ज्ञानके आदान-प्रदानसे बहुत लाभ हो सकता है। भारतीय वैद्योंको इस भूले हुए शस्त्रकर्मको पुनः आरम्भ करना है और परस्पर ज्ञानके आदान-प्रदानसे वैज्ञानिक उन्नतिमें प्रयत्नशील होना है। जितना ज्ञान सुश्रुतादि ग्रन्थोंमें है उसे अपनाकर अभ्यासमें लाना है और इस समयकी प्रगतिका अभ्यास और उपयोग कर अपनी शस्त्रचिकित्साको पूर्ण करना है। पश्चिमी विद्वानोंको अभी भी सुश्रुतादिसे बहुत कुछ ज्ञान-वर्धनकी सामग्री मिल सकती है।

नाड़ी परीक्षा भारतीय वैद्योंकी निजकी वस्तु है और नाड़ी-परीक्षा, जिह्वा-मल-मूत्र-त्वचा-दन्त-नख-स्वर आदिकी सहायतासे रोग निर्णय कर चिकित्सा करनेकी भारतीय विधि सर्वदा और सर्वथा सफल होती आयी है।

भारतसे सन् ईस्वीके चार पांच सौ वर्ष पहले यह विद्या पैथागोरस, टीसियस या हिपोक्रेटिसके द्वारा यूनान और सातवीं आठवीं सदीमें अरब पहुँची। किन्तु त्रिदोष सिद्धान्तको ठीक न समझ पाकर यूनानियोंको इसमें पूरी सफलता न मिली। त्रिदोष-के स्थूल ज्ञानके आधार पर उन्होंने ह्यूमरल थियोरी चलायी; परन्तु भूलकी भित्ति कहां तक स्थायी होती वह वैज्ञानिक प्रगतिमें

ठहर न सकी, ढह गयी ! वही अड़चन आजकलके पश्चिमी विद्वानोंके सामने है। त्रिदोष सिद्धान्त न समझ पानेके कारण वे अपनी पैथीमें न तो सिद्धान्तकी वैसी स्थिरता ला सके और न नाड़ीज्ञानमें ही प्रगति कर सके। तथापि अन्य प्रकारसे उन्होंने इस सम्बन्धमें बहुत कुछ काम किया है। नाडी परीक्षाके लिये स्फिग्मोग्राफ और रक्ताशयकी परीक्षाके लिये इलेक्ट्रो-कारडियोग्राफका आविष्कार किया है। ये उपाय झंझट वाले और खर्चीले अवश्य हैं, तथापि शोधक बुद्धिके परिचायक होनेके कारण वह स्तुत्य तथा आवश्यकतानुसार ग्राह्य हैं। आयुर्वैदिक वैद्योंका भी कर्तव्य है कि इस विषयको इस प्रकार समझावें कि अधिक ग्राह्य हो सके। दोष विकृति होनेसे किस दोषकी विकृतिसे शरीरमें कौन कौनसे लक्षण उत्पन्न होते हैं और उन लक्षणोंके अनुरूप नाड़ीकी गतिमें किस प्रकार अन्तर हो सकता है। इसे समझनेका डाक्टर लोग प्रयत्न कर रहे हैं और वायुकी सर्पगति नाड़ी को वे Wavy अथवा Wiry तथा पित्तकी मेंढक गतिवाली नाड़ीको Galloping pulse कहते हैं। सूतकी सी पतली नाड़ीको Thready नामसे सम्बोधित करते हैं। किन्तु त्रिदोष पद्धति न समझनेके कारण हृदयकी विकृतिके फेरफारके अनुसार इसका अनुमान निकालते हैं। शुद्ध रक्त वाहिनी धमनीमें हृदयके आकुंचनसे रक्त आता है। यह रोहिणी धमनी रबरकी नलीके समान लचदार है। इसलिये उस पर हाथ रखनेसे दबाव पड़कर वह धमकने लगती है। वात-पित्त-कफके विकृति स्वरूप और शक्तिके अनुसार रक्तकी लहरमें अन्तर पड़ता है। वायुप्रकोपमें नाड़ी लहराती और कांपती हुई, पित्तप्रकोपमें उष्णताके कारण उचकती हुई, कफमें धीमी गतिवाली रहती है। तीनों दोषोंकी विकृतिमें कूदती हुई तेजीसे चलती है। कभी क्षीण, कभी तेज,

रहती है। अतिसूक्ष्म Thready और अधिक शिथिल (Weak) नाड़ी मृत्यु-सूचक होती है। यह सब अलग विवेचनका स्वतन्त्र विषय है। तथापि विज्ञानकी देन जहाँ जितनी प्राप्त हो उसे बुद्धिपुरस्सर ग्रहण करनेका आग्रह रहना चाहिये।

आजकल पश्चिमी वैज्ञानिकोंने आहार शास्त्रमें विटामिनका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान बना रखा है। जीवनीशक्तिमें सहायता करने वाले कुछ पदार्थोंके वर्ग इनके अन्तगत आते हैं। ऐसे वर्ग हमारे यहां औषधिगणोंके रूपमें विद्यमान हैं। और उनकी संख्या अधिक है। प्रथम श्रेणीका विटामिन ए० ओजका वर्धन करता है। ऐसे पदार्थोंकी क्रिया यकृतमें होती है। दूसरे बी० विटामिन वर्गके द्रव्य दीपनपाचनीय हैं। इनकी क्रिया आंतोंमें होती और ऐसे द्रव्य अग्निको प्रदीप्त करते और पचाते हैं। तीसरा सी० विटामिन रक्तको शुद्ध करता और उसमें लालिमा उत्पन्न करनेका काम करता है। इसकी भी क्रिया यकृतपिण्ड और पित्ताशयमें होती है। यह प्रायः फलोंके रसोंमें अधिकतासे मिलता है। चौथा विटामिन डी० शरीरको मोटा ताजा करता और शुक्रवर्धक होता है। पांचवा विटामिन ई० रसायन गुण सम्पन्न और प्रजो-पादनी शक्ति बढ़ानेवाला होता है। इस खोजसे आहार निर्णयमें सहायता मिलती है। किन्तु इन वर्गोंमें जिन पदार्थोंका निर्देश हुआ है वे सभी समान रूपसे गुण प्रकाश नहीं करते हैं। मटरको विटामिन सम्पन्न बताया गया है; किन्तु उसका अधिक सेवन करनेसे पेटमें आध्मान और वायुकी वृद्धि होती है। करम-कल्लेकी भी बड़ी प्रशंसा कही जाती है; परन्तु उसमें उष्णता-उत्पादनकी जितनी शक्ति उतनी शक्ति बढ़ानेकी नहीं। इसी तरह मकाई अपनी रूक्षताके कारण ओजवर्धक नहीं है। पश्चिमी वैज्ञानिकोंमें यदि रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव और गुण

विवेचनके साथ वर्गीकरण करनेकी पद्धति होती तो उनका चुनाव कहीं अधिक निर्दोष होता।

संसारके वैज्ञानिकोंके मस्तिष्क तरह तरहके प्रयोगों और अन्वेषणोंमें लगे हुए हैं। उनका परिश्रम अपने लिये नहीं जन समाजके उपकारके लिये हो रहा है। रूसके वैज्ञानिकोंने एक मनुष्यका रक्त दूसरेमें पहुँचानेकी क्रियामें अधिक सफलता पायी है। अब तो ताजा खून न हो तो भी उनके कार्यमें वाधा नहीं पड़ती; विशेष पात्रोंमें संचित किये हुए रक्तसे भी वे काम चला लेते हैं। वियनाके एक डाक्टरने कृत्रिम रक्त बनाकर उससे असली रक्तके लाभ उठानेमें सफलता पानी आरम्भ की है। डाक्टर एलेकसिसकेरलने हृदयको मानव शरीरसे अलग कर और उसे रोग रहित बना फिर मनुष्य शरीरमें बैठा देनेमें सफलता पायी है, यही नहीं हृदयको अलग रख कुछ विधियोंके साथ उसमें रक्त पहुँचाते रखकर उन्होंने हृदयको पांच वर्ष तक गतिमान बना रखा है! अशोकके जमानेमें राजपुत्र कुणालकी आँख निकाल ली गयी थी, किन्तु बहुत दिनोंके बाद वैद्य जीवकने उन्हें फिर कुणालके लगाकर नेत्रवान बना दिया था। एक रूसी नेत्र चिकित्सक भी छः दिनों तक वर्फकी सन्दूकमें निकाले हुए नेत्र रखकर उन्हें कार्यान्वित बनाये रखनेमें सफलता पायी है। हमारे देशके विद्वान भी जब ऐसे ही आविष्कार और प्रयोगमें सफलता पाने लगेंगे तब हमें सन्तोष होगा। सर जगदीशचन्द्रराय और विज्ञानाचार्य प्रफुलाचन्द्र वसुके समान और भी अधिक सफलताके साथ हमारे देशके विद्वान् देश और संसार को वैज्ञानिक देन देनेमें सफल हों तभी भारतका पूर्व गौरव जागृत होगा।

साहित्यनिर्माण

किसी भी भाषा और समाजकी उच्चता एवं संस्कृतिका परिचय उसके साहित्यसे होता है। भाषा और समाज की योग्यताकी कसौटी उसका साहित्य है। हिन्दी इस देशके बहुजन समाजके लिखने बोलने और समझनेकी भाषा है। संयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रदेश, राजपूताना और दिल्ली तथा अधिकांश पञ्जाब-की वह मातृभाषा है और बंगाल, आसाम, उत्कल, आन्ध्र, महा-राष्ट्र, गुर्जर, कर्नाटक, तामिल आदिमें भी अब उसका क्रमशः प्रचार बढ़ रहा है, वह देशकी राष्ट्रभाषा हो रही है। अतएव हिन्दी का ग्रन्थ साहित्य और भी भरा पूरा होना चाहिये। वैज्ञानिक साहित्यके सम्बन्धमें कहा जा सकता है कि हिन्दी एकदम निर्धन नहीं है। प्रयागकी विज्ञान परिषद्के द्वारा भौतिकविज्ञान, रसा-यन आदिपर कई पुस्तकें निकली हैं। उसके द्वारा प्रकाशित होने-वाले "विज्ञानपत्र" में विविध वैज्ञानिक विषयोंकी चर्चा बराबर हुआ करती है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय भौतिकशास्त्र, रसा-यन, स्वास्थ्यविज्ञान, शरीररचना विज्ञान आदिपर पुस्तकें प्रकाशित कर चुका है। माननीय बाबू सम्पूर्णानन्द, आयुर्वेदाचार्य डाक्टर घाणेकर, आयुर्वेदाचार्य पं० दत्तात्रय अनन्त कुलकर्णी, डाक्टर फूलदेव सहाय वर्मा, डाक्टर गोरखप्रसाद, डाक्टर निहालकरण सेठी, स्वर्गीय बाबू रामदास गौड आदि लेखकों द्वारा विभिन्न वैज्ञानिक विषयोंपर कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। ज्योतिष और कृषि विज्ञान पर भी कुछ साहित्य निर्माण हो चुका है। पण्डित इन्द्रनारायण द्विवेदी और पं० सूर्यनारायण व्यास तथा पं० सुधाकर द्विवेदीजीने भी ज्योतिष विषयमें अच्छा प्रकाश डाला है। कृषि सम्बन्धी रसायनकी पहली पुस्तक स्वर्गीय टी० के०

जकातीने लिखी थी। स्व० बा० महेशचरण सिन्हाने भी कई पुस्तकें लिखी थीं। भौतिक विज्ञानपर एक पुस्तक पहले पं० रमाशंकर मिश्र और पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र तथा नारायण आपटेने लिखी थी। वैद्यक विषयमें भी डाक्टर त्रिलोकी नाथ वर्मा, डाक्टर मुकुन्द स्वरूप वर्मा, डाक्टर आशानन्दने नवीन प्रकाश डाला है। प्राचीन ढंगके आयुर्वैदिक साहित्यका प्रकाशन तो हिन्दीके बराबर किसी भी भारतीय भाषामें नहीं हुआ है। अवश्य ही आयुर्वैदिक विषयोंको नूतन ज्ञानके प्रकाशमें देखकर समीक्षा और समन्वय पूर्वक आत्मसात करनेका साहित्य अभी हिन्दीमें पर्याप्त नहीं है और उसके लिये अभी बहुत प्रयत्न और उद्योगकी आवश्यकता है। तथापि इस दिशामें भी स्वर्गीय पण्डित दुर्गादत्त पन्त, स्वर्गीय आयुर्वेद महोपाध्याय पण्डित शंकरदाजी शास्त्री पदे, स्वर्गीय पण्डित जगन्नाथ शर्मा राजवैद्य, स्वर्गीय पं० शालग्रामजी शास्त्री, वैद्यरत्न कविराज प्रताप सिंह, कालेडा बोगला के स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज, स्वामीहरिशरणानन्दजी, पण्डित किशोरीदत्तजी शास्त्री, पण्डित भागीरथजी स्वामी, पं० विश्वनाथ द्विवेदी, पं० महादेवचन्द्रशेखर पाठक, पं भिकाजी विनायक डेग्वेकर, कविरत्न पण्डितठाकुरदत्त शर्मा, प्रभृतिने स्तुत्य उद्योग किया है और स्वयं मैं भी इसके लिये सचेष्ट रहता हूँ। सुधानिधि, आयुर्वेदकेसरी, धन्वन्तरि, वैद्यसम्मेलनपत्रिका, बिहारवैद्यसम्मेलन पत्रिका, अनुभूतयोगमाला, राकेश, वैद्य, अश्विनीकुमार, स्वास्थ्यसन्देश आदि हिन्दीके आयुर्वैदिक पत्र भी आयुर्वेदविज्ञानकी चर्चाका विस्तार किया करते हैं। संस्कृत भाषा और नागराक्षर द्वारा नूतन ग्रंथ प्रकाशित कर महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन जीने शारीर और निदान विषयमें नयी शक्ति प्रदान की है। आयुर्वैदिक प्राचीन साहित्य खोजकर प्रकाशित करनेका जो

महान प्रयास पण्डित यादवजी त्रीकमजी आचार्यने किया है वह एक व्यक्ति क्या एक संस्थाके लिये भी कठिन है। इस दृष्टिसे हिन्दीका वैज्ञानिक क्षेत्र एक प्रकारसे अभिनन्दनीय है।

किन्तु इतना होने पर भी हमें सन्तोष नहीं है। एक बहु-व्यापक और राष्ट्र भाषाकी दृष्टिसे अभी हमारा वैज्ञानिक साहित्य बहुत नगण्य है। अनेक आवश्यक विषयों पर अभी विचारपूर्ण, विज्ञान संम्मत और देशकी समृद्धि बढ़ानेकी दृष्टिसे ग्रन्थ निर्माण-की बहुत आवश्यकता है। कृषि विज्ञान पर ऐसे समर्पक ग्रन्थोंकी आवश्यकता है जिनमें देश-दशा और किसानोंकी परिस्थितिके विचारसे कृषिकी उत्पादन शक्ति बढ़ानेके उपाय बताये जावें। फसल बोने, तैयार करने, खेत बनाने, सींचने, आदिकी सरल विधियाँ समझायी जावें। शाक सब्जी, फल फलहरी, पशुपालन, गोरस पदार्थोंके उद्योग आदि पर ग्रन्थ रचना होनी चाहिये। व्यावसायिक दृष्टिसे औषधि निर्माण शास्त्रकी रचना होनी चाहिये। अनेक प्रकारके गृह उद्योग, शिल्पकला और वाणिज्य-व्यवसाय सम्बन्धी साहित्य निर्माणकी बहुत आवश्यकता है। भारतीय भौतिक विज्ञान, न्याय, आयुर्वेद, सांख्य, वैशेषिक, योग आदि दर्शन ग्रन्थों, वेदों, उपनिषदों और पुराणोंमें बिखरा हुआ पड़ा है। बुद्धिमानी और सतर्कतासे उसका संकलन कर व्यवस्थित रूप देनेकी नितान्त आवश्यकता है। मुलम्मा, तार-कशी, फोटोग्राफी, रंगसाजी, प्रभृति उद्योगोंका उत्कर्ष विज्ञानकी सहायतासे किस प्रकार हो सकता है, इस पर प्रकाश डालना देशकी आवश्यकताका तकाजा है। अभी एक्सरे, रेडियम, उष्णता, प्रकाश, चुम्बकत्व, विद्युत, रसायन विद्युत, यन्त्रस्थितिशास्त्र और सेन्द्रिय तथा निरीन्द्रिय रसायन शास्त्र आदि पर काफी प्रकाश डालना शेष है। भारतीय रसायनशास्त्रमें नये ढंगसे ग्रन्थ

निर्माण होना नितान्त अभीष्ट है। इस प्रकार साहित्य निर्माण-के सिलसिलेमें हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हमारा बहुत कुछ वैज्ञानिक साहित्य संस्कृतमें है और उसे अपनी मातृ-भाषामें और राष्ट्रीय भाषामें ले आना अभीष्ट है। अतएव उसका संकलन कर अनुवाद अथवा स्वतन्त्र रूपसे हिन्दीमें कर लेना चाहिये।

विज्ञानके अन्य विभागोंमें कितनी ही उन्नति हुई हो किन्तु मानव जीवनको आरोग्य और सुखी बनानेकी कलामें कोई कहने योग्य उन्नति नहीं हुई है। संक्रामक रोगों, महामारी, दुर्भिक्ष आदिके सर्वनाशी स्वरूप बढ़ते जा रहे हैं। मनुष्योचित जीवन-धारणकी कलामें हमारी उन्नति नहीं हुई। जब तक देशमें देश-दशाके अनुकूल कृषि कलाका आविष्कार और प्रचार न हो जब तक देशमें आरोग्य विधायक अपने निजके आयुर्वेदका प्राचीन आधार पर नवीन संस्कार और पुरस्कार न हो, तब तक जीवन रक्षक और संवर्धक कलामें उन्नति हो भी नहीं सकती। इस ओर भी आविष्कार और साहित्य निर्माणकी बहुत आवश्यकता है।

इस प्रकार आवश्यकताका प्रतिपादन कर देना ही पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिये कोई कारगर योजना तैयार कर कार्यमें परिणत करना आवश्यक है। अभी तक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका ध्यान इधर पर्याप्त रूपसे आकर्षित नहीं हुआ है। काशी-नागरी प्रचारिणी सभाने कुछ प्रयत्न किया है। किन्तु एक व्यवस्थित रूप देकर कार्य विस्तार करना आवश्यक है। हमारे अबोहरका साहित्य-सदन भी ज्ञान "दीपक" का प्रकाश करने और कुछ ग्रन्थ रत्न प्रकाशित करनेमें प्रयत्नशील है। यदि इनमेंसे भी कुछ आव-श्यक विषयोंको अपना लें तो वह सर्वथा उचित होगा। व्यव-सायी प्रकाशकोंसे इस सम्बन्धमें आशा रखना व्यर्थ है; क्योंकि

इस सम्बन्ध की पुस्तकोंकी बिक्री इतनी नहीं हो सकती कि उन्हें उस प्रकार लाभ हो जिस प्रकार कहान , उपन्यास और काव्य ग्रन्थोंसे होता है। ऐसे ग्रन्थोंकी बिक्री भी शीघ्रतासे नहीं हो सकती। अतएव साधारण प्रकाशकोंसे ऐसी उदारता और धीरजकी आशा करना व्यर्थ है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनको ही इस भारको उठा लेना चाहिये। शिमला अधिवेशनके विज्ञानपरिषद्-सभापति डाक्टर फूलदेव सहाय वर्माने एक दस वर्षीय योजनाका प्रस्ताव किया था। उसके अनुसार एक लाखकी पूंजी इकट्ठी कर प्रति वर्ष १० के हिसाबसे १० वर्षमें १०० पुस्तकें तैयार करनेका सुझाव सुझाया गया था। इस प्रकार जन्तुविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, कृषि-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन. ज्योतिष, आरोग्यशास्त्र, रसतन्त्र, आयुर्वेद-शास्त्र, शरीर और शरीर क्रिया विज्ञान, सार्वजनिक आरोग्य और नगर तथा ग्रामोंकी सफाई और स्वास्थ्यरक्षा, बाल-संगोपन, व्यायाम आदि विषयों पर उपयुक्त पुस्तकें निकल जावेंगी। यदि दान द्वारा इस प्रकार पूंजी इकट्ठी न हो सकती हो तो शेयरोंके द्वारा एकत्र करनेका उद्योग करना चाहिये। किसी तरह हो; किन्तु सम्मेलनको इसे व्यावहारिक रूप देने और कार्यमें परिणत करनेका उद्योग करना चाहिये।

वैज्ञानिक भाषा

विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें लिखनेमें उनकी भाषाके सम्बन्धमें विचार कर लेना आवश्यक होगा। इनकी भाषा हिन्दी तो होगी ही; किंतु ऐसी पुस्तकें समस्त देशमें प्रचलित होनेकी दृष्टिसे लिखी जायँगी। अतएव उनकी हिन्दी ऐसी होनी चाहिये जो समस्त देशमें सरलतासे समझी जा सके। ज्योतिष और वैद्यककी

पुस्तककोंमें अपनी पूर्व परम्परा बनाये रखनेके विचारसे भाषा ऐसी रखनी पड़ेगी जिसमें संस्कृतके तत्सम और तद्भव शब्दोंकी प्रधानता हो। अभी तक इस विषयके मूलाधार और प्रामाणिक ग्रन्थ संस्कृतमें हैं। समस्त देशके वैद्य और ज्योतिषी संस्कृतके द्वारा ही इन विषयोंको ग्रहण करते हैं। अतएव उनमें यथा सम्भव शुद्ध हिन्दीके ग्रन्थ ही आदर पा सकेंगे। चालीस पैंतालीस वर्ष पहले ही महाराष्ट्रके आयुर्वेद महोपाध्याय पण्डित शंकर दाजी शास्त्री पदे महोदयने इस बातकी आवश्यकता समझ ली थी कि देशके विद्वानोंकी प्रचलित भाषा संस्कृत होने पर भी एक राष्ट्रभाषाकी आवश्यकता है और ऐसी राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है। आयुर्वैदिक और धार्मिक आन्दोलनके लिये उन्होंने हिन्दीका माध्यम स्वीकार ही नहीं किया बल्कि महाराष्ट्र और गुजरातमें उसका प्रचार बढ़ानेके लिये हजारों रुपये खर्च भी किये। उन्होंने हिन्दी-मराठी-गुजरातीका त्रैभाषिक सम्मिलित पत्र निकाला और उसका प्रचार किया। इस कार्य में स्वर्गीय बड़ोदा नरेश सर सयाजी राव गायकवाड़ने भी उन्हें अच्छी सहायता दी। नि० भा० वैद्य सम्मेलनमें संस्कृतके साथ ही हिन्दी भी प्रधानतासे प्रचलित की गयी और यह परम्परा वैद्य-सम्मेलनमें अब भी सुरक्षित चली आ रही है। विज्ञान सम्बन्धी अन्य पुस्तकोंमें भी भारतीय संस्कृति और परम्पराका आधार छोड़ना आवश्यक नहीं है। इसलिये उन पुस्तकोंमें भी हिंदीका रूप सरल और सुबोध ही रखना चाहिये। सम्पूर्ण भारतकी प्रान्तीय भाषाएं (बलोचिस्तान और सीमाप्रान्तको छोड़) या तो संस्कृतसे निकली हैं या उनपर संस्कृतका बहुत प्रभाव पड़ा हुआ है। अतएव उनको प्रान्तीय भाषाओंसे निकट सम्बन्ध रखने वाली शब्दावली वाली भाषा ही उन्हें ग्राह्य हो सकेगी।

इसलिये प्रकाशक और लेखकोंको पुस्तकोंके सार्व देशिक प्रचारके उद्देश्यको समझ राष्ट्रभाषाके स्वरूपको भी समझ रखना आवश्यक है। भाषाके साथ लिपिका प्रश्न भी आ सकता है। नागरी अक्षर बहुत परिवर्तनके बाद इस रूपमें आये हैं और उन्हें अब वैज्ञानिक रूप मिल गया है। इस समय लिपि परिवर्तनका प्रश्न भी सामने आया करता है। इस सम्बन्धमें भी विचारणीय यही है कि यदि परिवर्तनकी नितान्त आवश्यकता ही प्रतीत हो तो वह बहुत समझ बूझकर इस प्रकार करना चाहिये कि उनकी आकृति विकृति न हो और उनकी वैज्ञानिकता नष्ट न होने पावे।

लेखकोंको उत्साह प्रदान

बढ़िया और प्रमाणभूत पुस्तकें लिखानेके लिये उच्च कोटिके विद्वान लेखकोंकी आवश्यकता होगी। विद्वानोंकी तो देशमें कमी नहीं नहीं है; किन्तु इधर उनकी रुचि बढ़ानेके लिये कुछ आकर्षक उपायोंकी आवश्यकता है। ऐसे विद्वानोंको हिन्दीमें लिखनेके लिये प्रोत्साहित करना, उन्हें आग्रह पूर्वक इस क्षेत्रमें लाना हिन्दी प्रेमियोंका कर्तव्य है। इस समयका जीवन संघर्ष इतना विकट हो रहा है कि लेखन-कार्यमें प्रवृत्त होने और उसे पूर्ण करनेमें जो समय लगेगा उसे सरलतासे निकालना सभीके लिये सुगम नहीं हो सकेगा। इसलिये जो लेखक स्वान्तः सुखाय बिना पारिश्रमिकके लिख सकते हैं उनका तो स्वागत करना ही है, किन्तु लेखकोंको पारिश्रमिक, रायल्टी, पुरस्कार, पदक, उपाधि आदि देकर भी इस कार्यमें प्रवृत्त करनेके उपाय काममें लाने होंगे। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे लेखक हिन्दी क्षेत्रसे ही चुने जायँ। अखिल भारतके चुनिन्दा विद्वानोंका उपयोग करना

आवश्यक है। अतएव सार्वजनिक रूपसे उनका सम्मानवर्धन करनेसे उनमें उत्साहकी वृद्धि होगी और ऐसा आग्रह और आकर्षण ही उन्हें इस कार्यमें प्रवृत्त करनेमें समर्थ हो सकेगा। हिन्दीमें लेखकोंकी संख्या बढ़ रही है और बढ़ती ही जायगी। पात्र निर्वाचन कर उनका उपयोग करनेकी सावधानी अपेक्षित है। पिछले समयमें उचित पात्र निर्वाचन न कर सकनेके कारण आयुर्वैदिक ग्रन्थ प्रकाशकों द्वारा अर्थ और अनुवादमें बड़े अनर्थ हो चुके हैं।

पारिभाषिक शब्द

वैज्ञानिक पुस्तकोंके निर्माणमें सबसे बड़ी कठिनाई और सबसे बड़ी बाधा पारिभाषिक शब्दोंके निर्धारणमें है। इस समय विज्ञान इतनी शीघ्रतासे उन्नत हो रहा है कि वह मानव-जीवन और सांसारिक व्यवहारमें अपना अनिवार्य प्रभाव डालता जा रहा है। जहाँ एक ओर वैज्ञानिक प्रगति हमारे जीवनमें सहायक, हमारे ऐहिक उत्थानमें प्रभाव डालनेवाली हो रही है, वहां वह सर्वनाश और मानवजीवनके संहारका विकट ताण्डव भी कर रही है। जहाँ अपनी उन्नति और ऐश्वर्यवृद्धिके लिये हमें उसे अपनाना आवश्यक है, वहां उससे आत्मरक्षा करनेके लिये उसके स्वरूप और कार्यकलापको समझ कर उसके रहस्योंको समझना और रक्षाके उपायोंको काममें लाना भी अनिवार्य हो रहा है। इस दृष्टिसे वैज्ञानिक साहित्यका अध्ययन और आकलन करना सभीके लिये आवश्यक हो उठा है। आवश्यकता है कि सबकी समझमें आने योग्य भाषा और शब्दोंमें उसका साहित्य निर्माण किया जाय। नित्य नये प्रयोग और आविष्कारोंके कारण नये नये शब्दोंका निर्माण होता जा रहा है। इसलिये अपने प्राचीन पारिभाषिक शब्द अब पर्याप्त नहीं

हैं। हिन्दीमें नये पारिभाषिक शब्दोंका आना अनिवार्य है। प्राचीन और आधुनिक विज्ञानके बहुतसे शब्दोंके पारिभाषिक शब्द आयुर्वेद, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा वैदिक साहित्यमें मिल सकते हैं। उन्हें ढूंढ कर अपनाना आवश्यक है। इसके लिये आधुनिक विद्वानोंका संस्कृत साहित्यसे सम्पर्क होना अनिवार्य है। वाल्मीकि रामायण पढ़ने से हेड आफ दि डिपार्टमेंटका पर्याय 'महाकपालः', असिस्टेंट हेड आफ दी डिपार्टमेंटके लिये 'दीर्घ-कपालः,' सुपर वाइजरके लिये 'सुचक्षु' सुपरिंटेंडेंटके लिये 'सुपरितनदन्तकः' वाटर वर्क्सके इञ्जीनियरके लिये नील और जल पहुँचानेका प्रबंध करने-वाले इञ्जीनियरके लिये नल शब्द प्रयोग मिलता है। इसी तरह परिशीलनसे बहुतसे शब्द मिलेंगे। नैट्रोजनको नत्रजन, कार्बन को कार्ब आदि लिख देना पर्याप्त नहीं है और न ऐसा करनेसे उनका भारतीय स्वरूप ही बन सकता है। वैज्ञानिक शब्द निर्माण-में शब्दशास्त्रकी वैज्ञानिकताकी रक्षा होनी चाहिये। भारतीय भाषाकी शब्दराशिसे उसका सम्बन्ध होना चाहिये; और शब्दव्युत्पत्तिके अनुसार उसका अर्थ बोध भी होना चाहिये। बहुतसे आधुनिक वैज्ञानिक शब्दोंके पर्याय संस्कृतमें मिल सकते हैं और बहुतोंके अर्थबोधात्मक शब्द निर्मित हो सकते हैं। पारिभाषिक शब्द निर्धारण हँसी खेल नहीं है और न एक व्यक्ति या एक प्रान्तके बूतेका यह कार्य है। इसमें सभी प्रकारके वैज्ञानिकों, सभी भारतीय भाषाओंके प्रतिनिधियों, सभी साहित्यिक तथा वैज्ञानिक संस्थाओंके सहयोगकी अपेक्षा है। हम जो परिभाषा निर्धारित करेंगे उसका प्रचार सभी प्रान्तों और सभी भाषाओंमें होना आवश्यक है। इसमें बहुत गम्भीरता, धैर्य, अर्थ, अन्वेषण और परिश्रम का विनियोग करना पड़ेगा और देशहित तथा

साहित्यकी अभिवृद्धि और पूर्तिके लिये हमें इसे करना ही चाहिये, करना ही पड़ेगा। इस सम्बन्धमें काशी नागरी प्रचारिणी सभाने पहले उद्योग किया है और उस उद्योगके फलस्वरूप एक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ था। किन्तु पहले तो सभी विभागोंके पारिभाषिक शब्द बन न सके और फिर परिभाषा निर्धारणमें उस समय बहुत त्रुटि रह गयी थी, सम्भवतः इसीलिये उसका बहुत प्रचार नहीं हो सका। अब समय आ गया है कि हिन्दीसाहित्य सम्मेलन, वैद्यसम्मेलन, और नागरी प्रचारिणीसभा तथा विज्ञान परिषद् परस्पर सहयोगसे इस कार्यको फिर उठावें और अखिल-भारतीय विद्वानों और संस्थाओंकी सहायता एवं सहयोगसे इसे पूर्ण करें। इसकी पूर्ति हमींसे हो सकेगी और हमें इसे करना ही चाहिये।

सतत उद्योगकी आवश्यकता

विज्ञानकी उन्नति और प्रचारके लिये यथार्थमें सतत उद्योग करते रहनेकी आवश्यकता है। इसमें राजकीय शक्ति और प्रजाकी शक्तिका समान विनियोग होते रहना आवश्यक है। किन्तु इस समय राजकीय शक्तिसे पूर्ण अनुकूलताकी हमें आशा नहीं है। अभी कुछ दिन पहले वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी घोषणा-का समर्थन करते हुए आचार्य प्रफुल्लचन्द्र रायने जो वक्तव्य प्रकाशित किया है, उससे हमारी दैन्यावस्थाका अच्छा दिग्दर्शन होता है। आप कहते हैं कि "मनुष्य जातिकी उन्नतिके लिये विज्ञानके उपयोगका उद्देश्य केवल फासिज्मके द्वारा ही नहीं नष्ट हो रहा है बल्कि साम्राज्यवादके द्वारा भी नष्ट किया जा रहा है। भारत और अन्य ब्रिटिश उपनिवेशोंमें जिस प्रकार साम्राज्य-वादकी कारखाइयां चल रही हैं उनसे उक्त कथन सिद्ध हो जाता

है। भारतमें व्यावसायिक उन्नतिके मार्गमें भी रोड़े अटकाये जाते हैं। भारत सरकारने इस देशमें मोटरके व्यवसाय स्थापित करनेका भी विरोध किया है। अन्दरकी आगसे चलनेवाले एंजिन भारतमें बनानेके विरुद्ध भारतमन्त्रीने अभी पार्लामेंटमें विरोध किया है। स्वतन्त्रताके लिये लाखों आदमियोंके बलिदान होते हुए भी मानव-जातिका भविष्य अन्धकारमय है। क्योंकि अटलाण्टिकी घोषणा केवल हिटलर द्वारा अधिकृत यूरोपीय राष्ट्रों पर ही लागू होगी, ब्रिटेन द्वारा अधिकृत राष्ट्रों पर नहीं। अतएव भारतीय वैज्ञानिक संसारके वैज्ञानिकोंसे अपील करते हैं कि वे यह स्पष्ट कर दें कि समाजके वैज्ञानिक पुनर्निर्माणका आधार स्वतन्त्रता और न्याय होगा, और भौगोलिक सीमाओंका ख्याल न किया जायगा। हमारा विश्वास है कि वर्तमान संसारमें स्वतन्त्रता, उन्नति और मानव-जातिके कल्याण एक दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते।"

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि मानव जातिके कल्याण और वैज्ञानिक उन्नतिके लिये स्वतन्त्रता कितनी आवश्यक है। सारे संसारके देश भारतका धन दुह रहे हैं; परन्तु भारतमें कोई ऐसी शक्ति और युक्ति नहीं कि अपने उत्पादन द्वारा (अन्न और कच्ची वस्तुओंको छोड़) परदेशोंसे धन लाकर अपनी समृद्धि कर सके। कला-कौशल, व्यापार वाणिज्य, ज्ञान विज्ञानके ऐसे कोई सरकारी विद्यालय नहीं जहां विशेष रूपसे अर्थकरी विद्या सिखायी जाती हो। यत्रतत्र जो कुछ हैं भी वह नहींके समान हैं। उनसे हमारे उद्देश्योंकी पूर्ण सिद्धि नहीं होती। देशमें दरिद्रता और बेकारी दिनों दिन बढ़ रही है; परन्तु सरकार इसके लिये विशेष चिंताशील नहीं दीख पड़ती। विश्वविद्यालयोंसे विविध ज्ञान विज्ञान पढ़कर विद्यार्थी निकलते हैं; किन्तु शिक्षाके दोषसे उनमें स्वावलम्बनका अभाव रहता है। उन्हें सिवाय नौकरीके अन्य अवलम्ब

सूझता ही नही। विद्यार्थियोंको स्वावलम्बन सिखाने वाली विद्या और विज्ञानकी शिक्षा देनेकी व्यवस्था हो तो देश इस दुर्दशा-से निष्कृति पा सकता है। बुद्धि और चरित्रके उन्नति साधनके साथ विश्वविद्यालयसे निकलने वाले विद्यार्थियोंमें वृत्ति निर्वाचनकी योग्यता भी होनी चाहिये। हमारा भूतकाल कितना ही गौरवमय हो तौ भी विज्ञान क्षेत्रमें कभी सन्तोषको स्थान नहीं मिलना चाहिये। उसमें सदा उन्नति और प्रगतिशीलता लानेके लिये उद्योगशील रहनेसे ही वर्तमानमें हम महान और गौरवशाली हो सकते हैं और अपना भविष्य उज्ज्वल बना सकते हैं। हमारा विज्ञान हमारी आर्थिक और बौद्धिक परिस्थितिको जब उन्नत बनाता चले तभी हमें शान्ति मिलनी चाहिये। प्रत्येक प्रान्तमें विदेशी एलौपैथीके स्कूल कालेज लाखोंके खर्चसे चलाये जारहे हैं, परन्तु पूर्ण साधनोंसे युक्त देशी चिकित्सा पद्धतिकी शिक्षाके लिये कोई सरकारी प्रयत्न नहीं देखा जाता। हिन्दूविश्वविद्यालयका छोड़ देशी विश्वविद्यालय भी इस सम्बन्धमें उदासीन दे जाते हैं। पश्चिमी देशोंमें एक एक विज्ञानकी अनेक प्रयोगशालाएँ और संस्थाएँ हैं और उन्हें भरपूर सहायता भी मिला करती है। किन्तु भारतमें उत्साह दान न होनेके कारण ऐसी संस्थाओंकी संख्या एकदम परिमित है। यहांकी जनतामें भी इस ओर उदारता प्रदर्शित करनेका उतना उत्साह और झुकाव नहीं है। इसीलिये यहां वैज्ञानिक उन्नति नहीं हो पाती। इस कार्यके लिये भरपूर सरकारी सहायता जैसे सब देशोंमें मिलती है, उसी तरह यहां भी मिलनी चाहिये; किन्तु जब तक अपनी सरकार न हो तब तक इसमें कहां तक सफलता हो सकती है यह सहज अनुमानगम्य है।

किन्तु सरकारकी ओरसे उपेक्षाका भाव देखकर क्या हमें एक दम निराश, हतोत्साह और किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाना

चाहिये ? हमें सर्वसाधारण और उदार देशी जनताका ध्यान इधर खींचनेके लिये सतत उद्योगशील रहना आवश्यक है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलनको अपने अन्तर्गत एक विज्ञान विभाग खोल देनेकी आयोजना करनी चाहिये। सालमें एक दिन विज्ञान परिषद् कर देनेसे ही कर्तव्यकी इतिश्री नहीं हो जाती। यह परिषद् भी तो विशेष फलप्रद नहीं हो पाती। दो-तीन घण्टोंमें स्वागताध्यक्ष, सभापति और कुछ सज्जनोंके भाषण हो जाने या एक दो प्रस्ताव पास कर लेनेसे ही उद्देश्यकी सिद्धि कैसे होगी ? प्रतिवर्ष कुछ वैज्ञानिक जमकर किसी एक या अनेक विषयमें वादविवाद और चर्चा किया करें, उस विवादसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचा करें तो परिषदकी सफलता आंशिक रूपसे हो सकती है। यदि वैज्ञानिक विभाग स्थायी रूपसे रहे और साहित्य समितिके समान उसकी एक समिति या उपसमिति बनायी जाय तो उसे साल भर कुछ न कुछ करते रहनेकी प्रेरणा हो सकती है। इन परिषदोंमें कुछ होता नहीं, इसलिये इसकी उपयोगितामें साहित्यिक लोग सन्दिग्ध हो उठे हैं और शायद इसीलिये अब केवल साहित्य परिषदको छोड़ अन्य परिषदें बन्द करनेका लोग विचार कर रहे हैं। अन्य परिषदोंके सम्बन्धमें अपनी कोई सम्मति न प्रकाशित करते हुए विज्ञान परिषदके सम्बन्धमें कह देना चाहता हूँ कि इसकी बहुत आवश्यकता है और इसे भव्य और उपयोगी स्वरूप देनेकी ओर हिंदी संसार का प्रयत्नशील होना कर्तव्य है। यह अवश्य है कि सम्मेलनके अधिवेशनके समय इसके लिये कुछ घण्टोंको छोड़ अधिक समय मिलना सुविधाजनक नहीं है और इतने समयमें विज्ञानके सभी भागोंकी चर्चा होना सम्भव नहीं है। इसलिये ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि आयुर्वेद, ज्योतिष, कृषि, भौतिकविज्ञान, रसायनमें

से पारी पारी एक एक विषयकी परिषद प्रतिवर्ष होती रहे। जिस वर्ष जिस विज्ञानकी परिषद हो उस वर्ष विशेषतासे उसी विज्ञानकी चर्चा हो और गौणरूपसे अन्य विज्ञानोंके आवश्यक सामयिक विषयोंकी भी चर्चा हो। प्रतिवर्ष इस परिषदके जिम्मे साल भर तक काम करनेके लिये कुछ योजना और काम सौंप देना चाहिये। ऐसा होनेसे विज्ञान परिषदकी उपयोगिता बढ़ जायगी, सम्मेलनके द्वारा कुछ स्थायी और महत्वके काम होते रहेंगे। जिससे उसके उद्देश्यकी सिद्धि होगी, कार्यकी वृद्धि होगी, और साहित्यकी समृद्धि होगी। यही हमारा ध्येय और प्रेय है। इसीसे श्रेय मिलेगा। इतिशम्।

श्री जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य

सं० १९९८ वै० अबोहरके तीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके विज्ञान परिषदके सभापति पदसे पढ़ा गया भाषण।